श्रीयतीन्द्रसूरि-साहित्यमाला-पुष्पाङ्क २२



व्याख्यानवाचस्पत्याचार्यदेव-
श्रीमद्-विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज-
प्रसादीकृत—

श्रीसत्पुरुषों के लक्षण।



प्रकाशक—
मुनि श्रीविद्याविजयजी और सागरविजयजी के
सदुपदेश से—
धाणसा (मारवाड़) निवासी-
श्रीश्वेताम्बरजैन-त्रिस्तुतिक-श्रीसंघ।



श्रीवीरनि सं० २४८०	प्रथमसंस्करण	विक्रम सं० २०११
श्रीराजेन्द्रसूरि सं ४८	(१०००)	मूल्य १ रुपया।

मुद्रक—शाह गुलाबचंद लल्लुभाइ
श्रीमहोदय प्रिंटींग प्रेस दाणापीठ-भावनगर

जैनी श्रावक किसको कहना ? ।

पंचमी तप तमे करो रे प्राणी ए राह—

श्रावकभाई तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे ।
पर दु:खे उपकार करे पण, मन अभिमान न आणे रे ॥श्रा०॥१॥
सकल लोके वादे सुसाधुने, निन्दा न करे केनी रे ।
वाचा काय मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे ॥श्रा०॥२॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे ।
जीभ थकी असत्य न बोले, परधन नवि ग्रहे हाथ रे ॥श्रा०॥३॥
मोह माया व्यापे नवि अंगे, दृढ़ वैराग्य तेना मनमा रे ।
अरिहंत नामसु रटना लागी, सकल तीरथ तेना तनमा रे ॥श्रा०॥४॥
लोभी नहीं कपटी पण नहिं, काम क्रोध निवारे रे ।
भणे नरसैयो तेनु दरिसण, करता कुल उजवारे रे ॥श्रा०॥५॥

× × × ×

" भणे भणावे अवर को, शास्त्रतणा नित बोल ।
सुकृत में द्रव्य वापरे, दिले रहे सम तोल ॥ १ ॥
आश एक अरिहंत की, राखे मन में धार ।
क्रिया आवश्यक आचरे, परदुख भंजनहार ॥ २ ॥
ते जन उत्तमता लहे, आदर्श बन पूजाय ।
अमर यश सहित आयमे, अविनासी पद पाय ॥ ३ ॥"

अग्रिम-वक्तव्य।



१ तृष्णा छिन्धि—आकाश के समान तृष्णा का अन्त नहीं है और यह अग्नि के समान सर्व भक्षी अवगुण है। चाहे सारे संसार की साम्राज्य लक्ष्मी मिल जाय तो भी यह तृप्त नहीं होता। मानव जरा-जीर्ण हो जाता है, लेकिन तृष्णा तो सदा तरुण ही रहती है। संसार में अनेक अनर्थों की उत्पादिका यही है। अतः यदि सुखलाभ होना चाहते हो तो तृष्णा के वेग को प्रथम रोकना सिखो।

२ भज क्षमा—क्षमा रूप तलवार जिस पुरुष के हाथ में होती है, उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। वह सर्वत्र विजय पाता है। क्षमा वीर पुरुषों का भूषण है जिसका सब कोई अर्चन करते हैं। किसी कविने कहा भी है कि—

क्षमा अहिंसा की जननी है, विश्व प्रेम का है आधार।
क्षमा समर्थों का जीवन है, बलहीनों का है उपहार॥
क्षमा दण्ड से भी बढ़ कर है, अपराधी के लिये सुधार।
क्षमा बना देती है हिंमामय, जग को मधुमय संसार॥ १॥

सांसारिक व्यवहारों और आत्मप्रगति के कार्यों में सर्वत्र इसी गुण को अपनाने से उच्चपद प्राप्त होता है।

अतएव अपनी प्रगति के जिज्ञासुओं को इसी महा-गुण को अपना लेना सीखना चाहिये।

३ जहि मर्द-अभिमान से प्राणी शैतान-सा माना जाता है और प्रतिपद पर उसका तिरस्कार होता रहता है जो उसकी बरबादी कराता है। अभिमान के कारण ही रावण जैसे बलशालियों का बल भी नामशेष रह गया। इससे अगर गुण एवं यश प्राप्त करना हो तो अपने हृदय-भवन से अभिमान को निकाल देना सीखो।

४ पापे रतिं माकृथा -इन्द्रियों के प्रतिकूल या अनुकूल विषय विकार, कषाय भावों का प्रादुर्भाव, प्रवचन, अपहरण, अत्याचार, व्यभिचार और असत्य-भाषण आदि कार्य-कलाप सब पापबन्धन के कारण हैं। इनमें रचे पचे रहना और आनन्द मानना निकृष्ट कर्मों का उपार्जन करना है। इससे इनमें आमोद-प्रमोद न मनाओ।

५ सत्य ब्रूहि-सत्य मनुष्य में मानवता पैदा करने वाला उत्तम गुण है। इसीसे मनुष्य सर्वजन प्रिय, विश्वास पात्र और समादरणीय बनता है और उसे समस्त व्यवहारों में सफलता मिलती है। कहावत भी है कि 'सत्य बराबर धर्म नहीं, असत्य बराबर अधर्म।' अतः निरन्तर हित, मित एवं मधुर सत्य बोलना सीखो, यही बड़ा भारी धर्म है।

६ अनुयाहि साधुपदवीं-सदाचारी, सहनशील,

सत्यनिष्ट, और शिष्ट पुरुषों के समाचरित विशुद्ध मार्ग पर हार्दिक विश्वास रख कर दृढ़ता पूर्वक डटे रहने से मनुष्य पूज्यपद पर समारूढ़ होता है और अपनी एवं दूसरों की महा प्रगति कर सकता है। इसलिये मानवता या उसका विकास करना चाहते हो तो साधु-मार्ग का आचरण करो।

७ सेवस्व विद्वज्जन-जो व्यक्ति सदाचारवान् हैं, विद्वान् हैं, शास्त्रज्ञाता हैं और गुणवान् हैं उनका विनय, सेवा एवं समागम करने से भारी ज्ञान लाभ प्राप्त होता है। जिस प्रकार धागा पुष्पों की सोबत से गले का हार बनता है उसी प्रकार अज्ञ मनुष्य भी गुणी-जनों में समादरणीय हो जाता है। अतएव विद्वानों की कदर करना सीखो-जिससे संसार में अच्छे गुणों की प्राप्ति हो।

८ मान्यान् मानय-मानन योग्य गुणी पुरुषों का बहुमान करने से महती योग्यता मिलती है। जो लोग अभिमान या प्रमाद से माननीय पुरुषों का बहुमान नहीं करते, वे अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं होते। अतः मान्य पुरुषों का बहुमान करना सीखो।

९ विद्विषोऽपि अनुनय-जिस व्यक्ति के हृदय में काम, क्रोध आदि शत्रु विद्यमान हैं, उसमें और मूर्ख में कुछ भी भेद नहीं है-दोनों समान ही हैं। अपकार (अपराध) का प्रतिकार वैर से नहीं होता, पर उसका

असली प्रतिकार तो उसे 'अपना लेने से' होता है। अगर शत्रु को मित्र बनाना है तो उसका आदर सन्मान करना सीखो-जिससे वह स्वय दुश्मनाई छोड़ देवेगा।

१० प्रख्यापय स्वान् गुणान्–गुडाबाजी से, दसियों में नाम रखाने से, दूसरों के सहारे जीने से और नागाई से दुनिया में प्रसिद्ध होने से पद पद पर अपमानित होना पड़ता है। प्रति व्यक्ति को ऐसा सुकृत एव उपकार जनक कार्य करते रहना चाहिये–जिससे उनकी यशोगाथा दिग् दिगन्त तक चमकती रहे और मरने बाद भी गवाती रहे। इसलिये प्रशस्त गुणों के द्वारा प्रख्यात होना और उनकी यथावत् सुरक्षा रखना सीखना चाहिय।

११ कीर्त्ति पालय-अपनी एव पूर्वजों की जो कीर्त्ति उपार्जन की हुई है और उसीके प्रभाव से अपनी इज्जत बढ़ी या बनी हुइ है। उस पर किसी तरह धब्बा न लग सके ऐसे मार्ग का अनुयायी होना चाहिय–जिससे उस उज्वल कीर्ति पर कालिमा न चढ़ सके।

१२ दु खिते कुरु दया–प्राण, भूत, सत्व एवं जीव, ये चार तरह के प्राणी हैं। य सभी जीने की आशा रखते हैं, मरना कोइ नहीं चाहता। ये सब सुख के कामुक हैं, दु ख की कामना कोइ नहीं रखता। इसलिय इन पर दबाव डालन, इन्हें हेरान करने, इनको मारने या आघात पहुचाने

और इन पर अपनी मत्ता जमाने या इनको परेशान करने से पाप जनक महा भयकर हिंमा है जो घोर कर्मबन्धन की कारण-भूत है। कहा है कि—

> सबल होय के निबल को, दुख न दीजे सैन।
> आखिर मुश्किल होयगा, लेने से भी देन ॥ १ ॥

अत. हीन, दीन, दुःखी, निर्बल, प्राणियों पर सदा दया-भाव रक्खो, यथाशक्ति इन प्राणियों को सुखी करन का प्रयत्न करो, कराओ। ससार में सुख प्राप्त करने का यही सरल मार्ग है। धर्म शास्त्र भी लिखते हैं कि 'को धर्मो भूतदया' भूत जीवों पर दया रखना यही वास्तविक धर्म है। इसक बिना धर्म नहीं, खाली अधर्म है।

'एतत्सतां लक्षणम्'-ये सभी उत्तम पुरुषों क लक्षण हैं। इन्हीं गुणों क सपादन कर लेने से मनुष्य पूज्य माना जाता है और मानव, सत्पुरुष, एव आदर्श पुरुष कहा जाता है। क्यों कि—

> धैर्यं शौर्यमहिष्णुते सरलता सन्तोषसत्याग्रहौ,
> तृष्णाया विलय कषायविजयः प्रोत्साहन मानसम्।
> शान्तिर्दान्तिरुदारता च समता न्याये पदार्थे रति-
> श्चैते यत्र गुणा स्फुरन्ति हृदये तत्रैव मानुष्यकम् ॥ १ ॥

जिस व्यक्ति के हृदय में धैर्य, शौर्य, सहनशीलता,

सरलता, सन्तोष, सत्याग्रह, तृष्णा का विलय, कषायजय, उत्साह, इन्द्रियदमन, उदारता, न्याय और परमार्थ में रति, ये उत्तम गुण विद्यमान हों वहीं पर मनुष्यता का निवास होता है। मनुष्यता सपन्न पुरुष ही ससार में स्व पर की समुन्नति करने करान में समथ होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपरोक्त गुणों का ही सरल हिन्दी भाषा में विस्तृत विवेचन लिखा गया है जो अति सरल होने से बाल, तरुण, वृद्ध आदि सभी के समझ म आ सकता है। यह निर्विवाद है कि इसमें लिखित विवेचन को मनन करने स एव वाच कर और अपन हृदय में अंकित कर रखने से मनुष्य अवश्य आदर्श बन सकता है।

अन्त में इस पुस्तक को श्रीवाणसा (मारवाड़) के निवासी मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन सघने छपा कर प्रकाशित किया है। अत इस साहित्यिक ज्ञान सेवा के लिये श्रीसघ को हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है। इस पुस्तक में विषयानुक्रम नहीं दिया गया, किन्तु अग्रिम-वक्तव्य में ही प्रत्यक विषय के नम्बर लगा दिये हैं। इस लिये जिज्ञासुओं को जो विषय अवलोकन करना हो, उसको उसी नम्बर पर दख लेना चाहिये, वो मिल जायगा।

विश्वपूज्यश्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

श्रीसत्पुरुषों के लक्षण ।



तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं माकृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणान्,
कीर्त्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥ १ ॥

१ तृष्णां छिन्धि—तृष्णा के वेग को रोको ।

मुक्तिपथ में जाने के लिये सर्वप्रथम उन वस्तुओं का परित्याग करना होगा, जो मुक्तिपथ में विघ्न डालनेवाली हों। तृष्णा का वेग उस मार्ग में जाने के लिये भारी बाधक है। इस परिवर्तनशील परिस्थिति में मुक्तिपथ के अनेक पथिक हैं जो वेशभूषा मात्र से सज्जित हो मुक्तिपथ का राही अपने को मान बैठे हैं। खाली बाह्य लिंग मात्र से अपवर्ग का पथिक बनना विश्वके प्रकाशमान नयनों में धूल डाल कर भोली जनता का प्रवचन करना है। अतएव अपवर्ग-पथ में जाने के लिये खाली वेशभूषा कार्यकारी नहीं होती।

लोभ लालच को सर्व प्रथम अलग करना होगा। वास्तविक त्याग के बिना मुक्तिपथ मिलना सहल नहीं, बड़ा कठिन एवं दुर्लभ्य है। त्यागमार्ग के विशुद्धतम सर्व मान्य सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर यदि कोई गार्हस्थ्यावस्था से अलग हो, अपने को मुक्तिपथ का पथिक मान ले तो यह उसकी निरी अन्धता है। गृहस्थावस्था से अलग होने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में तृष्णा का अंकुर लगा हुआ है, काम, क्रोध, मद का तांता लगा हुआ है तो वह तृष्णा के पीछे उन्मत्त हो कर इतस्ततः भूलभुलैया के समान भटकता ही रहेगा। जिस प्रकार अकर्मण्यता मनुष्य को गिरा देती है, ठीक उसी प्रकार सर्वोच्चम पद पर अधिष्ठित सच्चे त्यागी को तृष्णा-कामिनी अवनति के गम्भीर गर्त में गिराये बिना नहीं रहती। तृष्णा अपने प्रपञ्च में मनुष्य को जकड़ कर अधोगति तक पहुँचाने में किसी तरह की कसर नहीं रखती। तृष्णा अपने मोहिनी मंत्र द्वारा साधारण मनुष्य से लेकर योगी महात्माओं तक अपना कुटिल प्रभाव दिखाने की क्षमता रखती है। स्वभावतः मानव तृष्णान्ध हो, इसी मोहिनी के पीछे भस्मासुर के समान सर्वदा भस्म होता रहता है। कहा भी है कि—

तृष्णान्धो दुःखमाप्नोति, परत्रेह च मानवः।

—तृष्णान्ध मनुष्य इस लोक और परलोक में कष्ट

पाता है, वह तृष्णा के पीछे यद्यपि क्षणिक सुख का अनुभव कर लेता है, किन्तु बाद में उसे नानाविध आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। पूर्वानुभूत सुख ही उसकी तृष्णा-वृद्धि का प्रधान कारण है। तृष्णाजन्य साधारण कार्य की सफलता के बाद मनुष्य की आशा अपार बढ़ती है। उस अवस्था में मनुष्य यह नहीं समझता कि अब तो कुछ सन्तोष की साम लूं। सन्तोष किसे कहते हैं?, सन्तोष धारण से क्या लाभ है? इन बातों के समझने का वह प्रयत्न नहीं करता। प्रयत्न करना तो दूर रहा, वह सन्तोष शब्द को अपने पास भी नहीं आने देता। यह सब तृष्णा के अतिशय वेग का ही परिणाम है। यदि कोई वैज्ञानिक अन्वेषक इस की सीमा का पता लगाने बैठे कि यह कितनी गहरी है ?, तो वह इस समस्या को हल करने में हताश ही रहेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त एवं असीम है। तृष्णा की सीमा का पता लगाना आकाश की सीमा को खोजना है। मनुष्य को ज्यों ज्यों वस्तुओं की प्राप्ति होती जाती है, त्यों त्यों उसकी तृष्णा बढ़ती रहती है। कितनी ही बार यह जीव अपार सम्पत्ति का स्वामी बन चुका है, फिर भी धन से इसको तृप्ति नहीं होती। आज भी दमड़ी दमड़ी के लिये लोग अपनी चमड़ी देने के लिये तैयार हैं। थोड़े से लाभ के लिये घोर से घोर अन्याय, अधर्म, या अकृत्य भी करना पड़े तो भी मनुष्य उसको किये

बिना नहीं हिचकाते। सम्पत्तिलाभ के लिये मनुष्य सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, आदि की आपत्तियों को सहन करते हैं और अपने प्रियजनों को छोड़ कर दूर दूर देशों में जाकर रहते हैं। इतनी परेशानी सहन करने के बाद जो धन प्राप्त होता है वही तृष्णा रूपी प्रज्वलित अग्नि में ईन्धन का काम करता है और तृष्णा का वेग और भी अधिक विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार तृष्णा का न कहीं अन्त है, न कहीं सीमा। ग्रन्थकारोंने कहा है कि—

निस्व वष्टिशत शती दशशत लक्ष सहस्राधिपो,
लक्षेश. क्षितिपालता क्षितिपतिश्चक्रेशता वाञ्छति।
चक्रेश पुनरिन्द्रता सुरपतिर्ब्राह्म पद वाञ्छति,
ब्रह्मा शैवपद शिवो हरिपद तृष्णावधि को गत ?॥१॥

—निर्धन दश, बीस, पचास, या सौ रुपया चाहता है, सौ वाला हजार, हजारवाला लाख और लाखवाला करोड़ों रुपया चाहता है। क्रोड़ों की सम्पत्तिवाला राजा, राजा महाराजा या चक्रवर्ती, चक्रवर्ती सुरेन्द्र, इन्द्र ब्रह्मा, ब्रह्मा शिव और शिव विष्णु बनना चाहता है, इस तरह तृष्णा की सीमा को कौन पा सकता है ?, कोई भी नहीं।

वृद्ध हो जाने से केश, दाँत, नेत्र, कान, आदि सभी अंगोपांग जीर्ण हो जाते हैं, पर तृष्णा कभी जीर्ण नहीं

होती, वह तो सदा सर्वदा जवान ही रहती है, और न कभी अपना स्वभाव बदलती है। प्रश्नोत्तरमाला में लिखा है कि—

बद्धो हि को यो विषयानुरागी ?,
को वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः।
को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः,
तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ॥

—बन्धन में कौन है ? जो विषयानुरागी आत्मा है। विमुक्ति कौन है ?, विषय-विकारों का त्याग ही मुक्ति है। घोर नरक क्या है ? अपना अपवित्र शरीर ही घोर नरक है। स्वर्ग क्या है ?, तृष्णा का नाश यही स्वर्ग है।

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णा,
श्रीमाँश्च को यस्य समस्ततोषः।
जीवन्मृत कस्तु निरुद्यमो यः,
को वा मृतं स्यात्सुखदा निराशा ॥

संसार में दरिद्री कौन है ?, जिसे तृष्णा बहुत है। धनवान् कौन है ?, जिसे सब तरह से सन्तोष है। जीता हुआ मृतक कौन है ?, जो आलसी या निरुद्यमी है और अमृत क्या है ?, जो आशा से सर्वथा रहित है।

तृष्णा के बढ़ने हुए साम्राज्य का सर्वनाश यदि होता है, तो केवल सन्तोष से। तृष्णा और सन्तोष का सर्प

मकुलवत् विद्वेष है। जहाँ हृदय में सन्तोष आया कि तृष्णा का समूल अन्त हुआ। जहाँ रात है वहाँ दिन नहीं, इसी तरह सन्तोष है वहाँ तृष्णा नहीं। ज्यों ज्यों तृष्णा घटती जायगी और जब तृष्णा का समूल नाश होगा, तभी पूर्ण सुख की अभिव्यक्ति होगी। अतः संसार में वास्तविक सुखप्राप्ति का एक मात्र उपाय है–तृष्णा का निरोध करना। जब तक तृष्णा का निरोध नहीं होता, तब तक मुक्तिपथ भी मिलना असम्भव है।

तृष्णा एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य के सद्धर्म और उत्थान पथ को नष्ट-भ्रष्ट कर पापपुञ्ज को उत्पन्न करती है। तृष्णा का निरोध और सन्तोष का अनुपालन ही पापों का नाश करने की अचूक औषधि है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को उन्नत होने के लिये सर्वप्रथम निस्तृष्ण होने की पूरी आवश्यकता है। तृष्णा राक्षसी का मुख काला किये बिना किसीको परमसुख नहीं मिल सकता। धर्मशास्त्र कहते हैं–

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य, सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद् गूढपादस्य, ननु चर्मावृतेव भूः॥ १॥
सन्तोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥ २॥

—जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सब सम्पत्तियाँ आधीनसी हैं। जैसे पैर में जूता पहने हुए पुरुष को सारी

पृथ्वी चर्ममयी दिखाई देती है। सन्तोष रूपी अमृत से अघाये हुए शान्त चित्तवाले लोगों को जो सुख है वह सुख इधर उधर घूमनेवाले धन के लोभियों को कहाँ है ? । धनलुब्ध लोग तो आशापाश में जकड़े हुए रहते हैं, उन्हें क्षणभर भी सुख शान्ति नहीं मिलती। इसी विषय का यथावत् स्वरूप समझने के लिये नीचे का उदाहरण भी मनन करने योग्य है।

कौशाम्बीनगरी के राजा जितशत्रु के काश्यप नाम का एक विद्वान् पुरोहित था। उसके यशा नाम की सुशिक्षिता स्त्री थी। उसकी कुक्षी से एक 'कपिल' नाम का पुत्र हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसका पिता मर चुका था। राजाने काश्यप के पद पर अन्य ब्राह्मण को पुरोहित कायम कर दिया। काश्यप की स्त्री उसके होते हुए सन्मान को देख कर रोने को बैठी। कपिलने रोने का कारण पूछा। माने कहा तू पढ़ा लिखा नहीं इससे अपनी सारी आजीविका का भोग दूसरा कर रहा है। अगर तू पढ़ा होता तो वह आजीविका दूसरों के हाथ में क्यों जाती ?, कपिलने कहा-मैं पढ़ने को सब तरह तैयार हूँ, आप योग्य प्रबन्ध करो। माताने प्रसन्न हो कर कहा कि-यहाँ तो तेरे को पढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता, इसलिये श्रावस्तीनगरी में तेरे पिता का मित्र पंडित इन्द्रदत्त रहता है, वहाँ जाकर अभ्यास कर।

कपिल माता की आज्ञा से श्रावस्ती में इन्द्रदत्त के यहाँ पहुँचा और सब हाल उसने कह सुनाया। इन्द्रदत्तने शालि भद्रसेठ के यहाँ भोजनादि का सब प्रबन्ध कराके कपिल को निजपुत्र के समान पढ़ाना शुरू किया। दो तीन वर्ष में ही सतत अभ्यास करके कपिल विद्वान् बन गया। सेठने कपिल की भोजनादि व्यवस्था के लिये एक दासी की पुत्री नियत की थी। युवावस्था के कारण कपिल उसके प्रेम में फँस गया। ठीक ही है कि 'यौवन हि विकाराणां, सर्वेषामादि कारणम्' प्राणिमात्र के विकार पैदा होने का आदि कारण युवावस्था ही है।

श्रावस्ती में दास दासियों का उत्सव दिन आ गया। कपिल की प्रेमिका के पास में एक कौड़ी भी न होने से उसे चिन्ता हुई, अतः उसका चेहरा उदास हो गया। कपिलने इसका कारण पूछा। प्रेमिका बोली कि-गाँव में उत्सवारम्भ होनेवाला है, खर्च के लिये मेरे पास कुछ नहीं है, बस, यही चिन्ता परेशान कर रही है। कपिलने पूछा-इसके मिलने का उपाय कोई है ? । प्रेमिकाने कहा-यदि आप यहाँ के राजा धनपति के घर जा कर सब से पहले प्रातःकाल आशीर्वाद देवें तो वह आपको दो माषा सुवर्ण देगा, इसीसे मेरा सारा कार्य सम्पन्न हो जायगा। कपिल अपनी प्रेमिका की आज्ञापूर्ति के लिये आधीरात को ही उठ कर चल पड़ा। रास्ते में जा ही रहा था कि पहरदारोंने उसे चोर समझ कर

पकड़ लिया और रातभर कारागार में बन्द रक्खा। कपिल सोचने लगा कि भाग्यहीन को दरिद्र सताये बिना नहीं रहता। नीतिकारोंने लिखा भी है कि—

दारिद्रयान्मरणाद्वापि, दारिद्रयमपरं स्मृतम्।
अल्पक्लेशेन मरणं, दारिद्रयमतिदुस्सहम्॥ १॥

—दरिद्रता और मरना इन दोनों में से दरिद्रता अत्यन्त कष्टप्रद है, क्योंकि मरण तो थोड़े दुःख से होता है, किन्तु दरिद्रता तो आजीवन दुःख देती और पद पद पर अपमान कराती है। यह नीच, दुष्ट लोगों को ऊँचा चढ़वाती है, उनकी खुशामद कराती है और सभी कष्ट लाकर ऊपर पटक देती है। यह लोगों को इधर-उधर घुमाती है और आखिर शून्य हस्त टूटी झोंपड़ी में आने के लिये विवश करती है। दरिद्र का सारा जीवन निकम्मा है, उसे अपने सगे-सम्बन्धियों मे, या अन्य लोगों में कहीं पर आदर नहीं मिलता और न आश्रय।

प्रातःकाल हुआ अभियुक्त कपिल को राजा के सामने ले जाया गया। राजाने सूक्ष्म-दृष्टि से अभियुक्त की ओर देखा। आकृति से राजा को निश्चय हो गया कि यह वास्तव में चोर नहीं, अँधियारे में भूला भटका पथिक है। कपिल के चेहरे पर राजा को वे चिह्न दिखाई नहीं दिये जो किसी

चोर के चेहरे पर अपने आप प्रगट होते हैं। राजा नीतिवान्, विद्वान्, दूरदर्शी और विद्वानों का आदर करनेवाला था। उसने कपिल से सभी घटना पूछी। कपिलने निःसंकोच हो अपना समस्त वृत्तान्त राजा को कह सुनाया। राजाने उसकी दयनीय दशा पर विचार कर कपिल को मुक्त कर दिया और इच्छानुसार माँग लेने को कहा। कपिल दरिद्र था, दो माषा सोने के लिये घर से निकला था। यथेच्छ दान माँगने की राजाज्ञा सुन कर बड़े असमंजस में पड़ गया। सोचने लगा दो माषा सोने से क्या होगा?, कम से कम पचीस तोला तो माँग लूं। पर इतने से क्या दरिद्रता मिट सकती है?, जब मनमाना मिल रहा है तो कम क्यों माँगा जाय?, इस प्रकार सोचते सोचते कपिलने सारा राज्य और सुमेरु जितना सोना माँग लेने का विचार स्थिर किया। शुभसंस्कार वश अन्त में उसके अन्तःकरण में यह सत्प्रेरणा उत्पन्न हुई कि-जो तृष्णा दो माषा सोने से बढ़ते बढ़ते अधिक सीमा तक जा पहुँची, तो न मालूम आगे कहाँ तक बढ़ती जायगी। अगर तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही तो उतना माँग लेने से भी क्या सन्तोष आ जायगा?, नहीं। कहा है भी कि-

सुवण्णरुप्पस्स पव्वया उ भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ ॥

–कैलाश पर्वत के समान ऊचे ऊचे सोना चादी के असख्यात पहाड़ भी मिल जॉय, तो भी लोभी मनुष्य को उनसे तृप्ति नहीं होती। क्यों कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है (उत्त० ९ वा अ०)

अतएव सुख एव पूर्ण शान्ति का मूल कारण है तृष्णा को जड़ से उखाड़ कर फेंक देना। तृष्णाने मुझे दु'खी और दरिद्री बना रखा है, इसलिये इसका सदा के लिये परित्याग करना ही सुखी होना है। ऐसे सद्विचार स्फुरण होते ही कपिलने राजा की उदारता के लिये धन्यवाद दिया और कुछ न माँगने का अपना निश्चय राजा के सामने प्रगट कर दिया। राजा को इस अचानक परिवर्त्तन से बड़ा आश्चर्य हुआ। कपिल के मुखकमल पर अब दीनता एव दरिद्रता अपना प्रभाव नहीं जमा सकी। उसकी विकसित आकृतिने उसको राजा का विशेष आदरपात्र बना दिया। कपिल का चेहरा सन्तोष की अक्षुण्ण आभा से चमक उठा। सन्तोष क प्रभाव से उसकी सारी चिन्ता हट गइ। वास्तवमें ये सन्तोष ही सर्वश्रेष्ठ धन, सुख और सर्वोत्तम धर्म है। सन्तोष प्राप्त हो जाने पर किसी भी पौद्गलिक धन, या विनाशी सुख की आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तिमार्ग का राही बनने के लिये मनुष्यमात्र को सन्तोष की आराधना करना चाहिये। मनुष्य चाहे कितनी भी तपस्या क्यों न करे किन्तु जब तक उसमें सन्तोष नहीं है, सब वृथा है।

सन्तोष धारण करने से मनुष्य सब सिद्धियों को सुलभता से प्राप्त कर सकता है। क्योंकि—

जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा गृहं,
चिन्तारत्नमुपस्थितं करतलप्राप्तो निधिः सन्निधिम्।
विश्वं वश्यमवश्यमेव सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः,
ये सन्तोषमशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं बिभ्रते ॥ १ ॥

—जो मनुष्य दोष रूपी अग्नि को बुझाने में बादल के समान सन्तोष को धारण करते हैं-उनके सामने मानो कल्पवृक्ष पैदा हुआ है, उनके घर में कामधेनु तथा चिन्तामणिरत्न आया है। इसी तरह नवनिधि भी उनके पास आ जाती है, और सारा संसार उनके आधीन हो जाता है। स्वर्ग और अपवर्ग की लक्ष्मी उन्हें सुलभता से प्राप्त हो जाती है। अतः प्रत्येक मनुष्य को, विशेषतः उन मुमुक्षुओं को जो अपने को मुक्तिपथ का राही माने बैठे हुए हैं, तृष्णा का समूल छेदन कर सन्तोष धारण करना चाहिये, तभी वे अपने कार्य में सफल होंगे।

सन्तोष की सुन्दरतम सीमा में प्रविष्ट हो कपिलने अनित्यादि भावनाओं से भावित होकर परम ज्ञान प्राप्त किया। देवोंने उन्हें साधुवेश अर्पण किया। फिर उन्होंने अनेक भव्यप्राणियों को मुक्तिपथ के राही बनाये और स्वयं अजर

अमर पद प्राप्त किया। सदा के लिये जन्म मरण सम्बन्धी दुःखों से छुटकारा पाया।

संसार में किसीको धनलोभ है, किसीको अपने मानापमान की चिन्ता है, किसीको पुत्र कामना है, किसीको दुनिया में यश कीर्त्ति बढ़ाने की लालसा है, किसीको अखबारों में प्रसिद्ध होने की अभिलाषा है, किसीको प्रवञ्चन में ही मजा है, किसीको चेला चेली अधिक करनेकी व्यग्रता है, किसीको चर्चावाद में विजय पाने की उत्कंठा है और किसीको दूसरों के जान माल को हड़प लेने में आमोद-प्रमोद है। जब तक ये सब हृदय भवन में विलास करते हैं तब तक पण्डित और मूर्ख दोनों समान हैं—उनमें कुछ भी भेद नहीं है। कहा भी है कि—

काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान।
का पण्डित का मूरखे, दोनों एक समान ॥ १ ॥

सन्तोषी पुरुषों में विपत्ति के समय धीरता, ऐश्वर्यावस्था में सहनशीलता, सभा में वचनचातुर्य और शास्त्रविचार आदि में व्यसनिता होती है। कायरता आदि दुर्गुणों को उनके हृदय में स्थान नहीं मिलता, इसीसे वे सन्त कहाते हैं। यों तो नाक, कान, आँख आदि इन्द्रियाँ सभी के होती हैं, परन्तु उनके सब व्यापार पाप जनक हैं। सन्तोषी पुरुषों

के प्रत्येक व्यापार में योग्यता, माधुता और सुधिधिता झलकती है। क्यों कि—

श्रवण नयन मुख नासिका, सब ही के इक ठौर।
हसिवो बोलिवो देखिवो, सन्तन को कछु और ॥१॥

जिनके हृदय-भवन में सन्तोष आकर विराजमान होता है, उनके हृदय में न क्रोध रहता है, न मान, और न माया रहती है, न कामपिपासा। उनका हृदय विशुद्ध होता है और वे स्वपर को बड़ी आसानी से सुखी करने की क्षमता रखते हैं। अतएव दुनियादारी के आशा-पासाओं को तोड़ दो, उनके फन्द में न फसो, अखण्ड सुख के देनेवाले सन्तोष को धारण करो और सन्तोषी सन्तों की सेवा करना सीखो। लिखा भी है कि—

जो सन्तन में मन को लगाये हुए हैं,
वह फल मुक्त जीवन को पाये हुए हैं।
जो बन्दे हैं दुनिया के, गन्दे सरासर,
वह फन्दे में खुद को, फँसाये हुए हैं ॥ १ ॥

जो सोते हैं गफलत में, रोते हैं आखिर,
वह खोते रतन, हाथ आये हुए हैं।
पकड़ पाया, सतगुरु के दामन को जिसने,
वही है मगन, सब सताये हुए हैं ॥ २ ॥

२ भज क्षमां—सहनशील बनो।

धर्मपथ की ओर बढ़ानेवाला धार्मिकता का मुख्य अङ्ग क्षमा है। जिसने अन्य शुभ साधनों में सम्पन्नता प्राप्त कर ली है, यदि क्षमा गुण का साधन नहीं किया, तो उसने केवल मुक्ति के साथ उपहास कर अन्य साधनों के लिये अपना अमूल्य समय व्यर्थ खोया, जो प्रायः आगे चल कर सर्वथा निस्सार और अनुपादेय है। अहिंसा, सत्य आदि गुणों की अपेक्षा क्षमा गुण में अभूत-पूर्व महत्ता है। कई महापुरुषोंने इसी उपादेय अमर गुण का अवलम्बन लेकर अपने को मुक्तिपथ का अतिथि बनाया है। अत यह कहना सर्वथा सत्य, शास्त्रसगत, एव सैद्धान्तिक युक्तियों से निर्विवाद है कि क्षमाशील मनुष्य अपनी क्षमाशीलता के फल स्वरूप जितना शीघ्र धर्मपथ की सीमा पर पहुँच सकता है, उतना शीघ्र अन्य गुणावलम्बी साधक नहीं पहुँच सकता। इस गुण की महत्ता को समझने के लिये यह भी जान लेना अत्यावश्यक है कि मनुष्य में क्षमागुण की सच्ची साधकता होने क पश्चात् उसमें सत्य, अहिंसा, अस्तय, त्याग एव ब्रह्मचर्य आदि उत्तम गुणों की जागृति स्वतः हो जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि-क्षमा एक ऐसा असाधारण, अनुकरणीय गुणरत्न है जिसमें अन्यान्य सभी गुणों का समावेश रहता है और उनका सहनशीलता के बिना समु-

के प्रत्येक व्यापार में योग्यता, साधुता और सुशिक्षिता झलकती है। क्यों कि—

श्रवण नयन मुख नासिका, सब ही के इक ठौर।
हसिवो बोलिवो देखिवो, सन्तन को कछु और ॥१॥

जिनके हृदय-भवन में सन्तोष आकर विराजमान होता है, उनके हृदय में न क्रोध रहता है, न मान, और न माया रहती है, न कामपिपासा। उनका हृदय विशुद्ध होता है और वे स्वपर को बड़ी आसानी से सुखी करने की क्षमता रखते हैं। अतएव दुनियादारी के आशा-पाशाओं को तोड़ दो, उनके फन्द में न फसो, अखण्ड सुख के देनेवाले सन्तोष को धारण करो और *सन्तोषी सन्तों की सेवा करना सीखो।* लिखा भी है कि—

जो सन्तन में मन को लगाये हुए हैं,
वह फल मुक्त जीवन को पाये हुए हैं।
जो धन्दे हैं दुनिया के, गन्दे सरासर,
वह फन्दे में खुद को, फँसाये हुए हैं ॥ १ ॥

जो सोते हैं गफलत में, रोते हैं आखिर,
वह खोते रतन, हाथ आये हुए हैं।
पकड़ पाया, सतगुरु के दामन को जिसने,
वही है मगन, सब सताये हुए हैं ॥ २ ॥

१

स्मरणशक्ति हीन होने से मनुष्य को सारी चेतना का सर्वनाश हो जाता है।

अतः मनुष्य को क्षमाशील बनने का यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये। जितना हो सके उतने सत्साधनात्मक प्रयत्न की अत्यधिक मात्रा इस ओर अग्रसर रहेगी, तो उसके लिये मुक्ति हथेली में ही समझना चाहिये। जिस प्रकार ठंडा हथोड़ा गर्म लोहे को कूट पीट कर यथेच्छ घाटदार बना देता है, उसी प्रकार क्षमा मनुष्य में मनुष्यता ठाँस ठाँस कर भर देती है-जिसके प्रभाव से वह जन्म जन्मान्तरों के पापकर्मों का समूल नाश कर परमज्ञानी आदर्श पुरुष बन जाता है। दूसरे तीर्थङ्करों की अपेक्षा भगवान महावीरस्वामी के कर्मों का उदय अधिक था। उन्होंने अपने उन कर्मों का सर्वनाश इसी निरुपम क्षमागुण से किया था। उनमें यह गुण कितनी मात्रा मे कूट कूट भरा हुआ था, यह नीचे के वृत्तान्त से भलीभाँति मालूम हो सकता है।

दीक्षा धारण किये बाद प्रभु महावीर कुमारगाँव के निकटवर्ती वन में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे। उस समय एक किसान अपने बैल उन्हें भला कर कार्यवश अपने घर चला गया। थोड़ी देर बाद वह वापिस आया, तो वहाँ उसको अपने बैल दिखाई नहीं दिये। किसानने चारों ओर जंगल में ढूँढे, पर बैल नहीं मिले। इधर बैल चरते चरते प्रभु के

चित विकास नहीं हो पाता। मनुष्यों को चाहिये कि क्षमा के अतिरिक्त पहिले अन्य गुणों को ग्रहण करने के परिणाम-स्वरूप अपनी दुर्बल मानसिक एकाग्रता को सुस्थिर बनाने में व्यर्थ प्रयास न करें, क्यों कि यह उनका प्रयास प्रयास मात्र ही रहेगा। फलाभ्युदय की आकांक्षा रखना तो मृगतृष्णा के समान है। जो मनुष्य सत्यवादी है, अहिंसा का पुजारी, निर्लोभी, मद-मोह परित्यागी और धर्मनिष्ठ है, यदि वह क्षमाशील नहीं है, तो उसकी सत्यवादिता, अहिंसकता, निस्तृष्णता, मदमोहत्यागिता एवं धर्मनिष्ठता कहने मात्र की है-उनका वह समुचित पालक और फलगामी नहीं बन सकता। जिस मनुष्य म क्षमाशीलता नहीं, चाहे वह अन्य सद्गुणों से युक्त ही क्यों न हो, परन्तु उसके वे गुण क्षमा के अभाव म उसी तरह लुप्तप्राय हो जाते हैं, जिस तरह वसन्त क अभाव में कोयल की मधुर कूक। इसीका समर्थन करते हुए भगवद्गीता म लिखा है कि—

क्रोधाद् भवति सम्मोह, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिविभ्रमाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥१।

—क्षमाशीलता न होने से विवेकशून्यता, उससे स्मृति चलायमान होती है और उससे मनुष्य चेतनाहीन होकर स्वयं नष्ट हो जाता है। क्रोध से विवेक चला जाता है, विवेक के चले जाने से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और

कर्मोंको भोग कर मैं स्वय नष्ट करूगा, उसमें आपका सहारा कुछ भी कार्यकारी नहीं हो सकता। विपत्तियाँ मनुष्यों के मानसिक दृढ़संकल्पों की परीक्षक हैं। जो पुरुष इनमें सर्व तरह उत्तीर्ण हो जाता है, वही आगे जाकर आदर्श बन जाता है। बस, इन्द्र प्रभु को वन्दन कर वापिस अपने स्वर्ग में चला गया।

इसी प्रकार प्रभु को चलविचल करने के लिये कटपूतना देवी, शूलपाणियक्ष, ग्वाल तथा संगमदेव आदिने असह्य कष्ट दिये, पर भगवान् अंशमात्र भी चलविचल नहीं हुए। न उन पर नाराज हुए और न आत्मा में घबराहट को स्थान दिया। आखिर अखण्ड क्षमाशीलता से घातिकर्मों का समूल क्षय करके भगवान् महावीरप्रभुने लोकालोक प्रकाशी सर्वज्ञ सर्वदर्शी पद प्राप्त किया।

ठीक है जिस महापुरुष में ऊँची नम्रता, अखंड सहन शीलता और अटूट दृढता होती है, वह त्रिभुवन का पूज्य बनता ही है। जिस प्रकार गजराज के पीछे कुत्ते भौंकते रहते हैं पर वह उनकी तुच्छता पर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इसी तरह क्षमाशील पुरुष तुच्छों की बकझक पर कुछ भी ध्यान न देकर अपने ध्येय में निमग्न रहते हैं। वे भलीभाँति जानते हैं कि-तुच्छों के बकने, या उनके डाले हुए विघ्नों पर लक्ष्य रखने से ध्येय की सफलता न कभी हुई और नहीं होती है।

पास आ गये। किसानने फिर आकर देखा तो बैल वहाँ खड़े हुए हैं। 'हो न हो इसी पाखण्डीने बैल छिपा रखे थे' ऐसा सोच कर किसान मारे क्रोध के प्रभु को मनमाने वचन प्रहारों से कष्ट देने लगा, पर क्षमाशील प्रभु तो अपने परम शान्तिमय ध्यान में ही मग्न रहे। उसके अनुचित परुष वचनों पर प्रभुने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जब किसानने अपने वचन प्रहारों का कुछ भी असर पड़ते नहीं देखा, तब वह अज्ञप्राणि प्रभु को पीटने लगा, पर प्रभुने उसे भी सहन किया, किन्तु अपना ध्यान-भग नहीं किया। इन्द्रने प्रगट होकर किसान को डाटा कि ये महान् तपस्वी हैं, राजा सिद्धार्थ के पुत्र हैं और विश्वकल्याण के लिये तपस्साधना कर रहे हैं। ये तुम्हारे बैलों को लेकर क्या करेंगे ?। जो राज्य का परित्याग कर चुके हैं, उन्हें बैलों से क्या वास्ता है ?। यह सुन कर किसानने प्रभु से माफी माँगी और वह अपने बैलों को लेकर घर चला गया।

इन्द्रने कहा-भगवन् ! आपको बारह वर्ष तक अनेक कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अगर आपकी आज्ञा हो, तो उनको हटाने के लिये मैं सेवा में रहूं। प्रभुने कहा-इन्द्र ! ससार में 'आत्मा एव कर्त्ता आत्मैव तद् भोक्ता' इस सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा ही पाप करता है और विपाक काल में आत्मा ही उनको भोगता है, उन्हें हटानेवाला ससार में कोइ नहीं है। इसलिये मेरे योग्य

रही थी। ऐसे समय में विश्वामित्र एक तीक्ष्ण तलवार को लेकर वशिष्ठजी के ध्यानस्थल पर जा पहुँचे। उनके आते ही वशिष्ठ की समाधि खुल गई। विश्वामित्रने कहा–'वशिष्ठ! अब भी तुम मेरे को ब्राह्मण मानते हो या नहीं? अगर अपने मुख से मुझे ब्राह्मण न कहोगे तो मृत्युमुख के कवल बना दूगा।' विश्वामित्र की पैशाचिक लीला को देख कर वशिष्ठजी को आश्चर्य एव खेद उत्पन्न हुआ, फिर भी धैर्यता के साथ बोले कि 'क्या आप खड्ग की प्यास बुझाने से ब्राह्मण बन सकते हैं?, अथवा इस पैशाचिक कुकृत्य से ब्रह्मत्व के अधिकारी हो सकते हैं?। आप अधिक से अधिक घोर तपस्याएँ करके इस प्रकार के पैशाचिक काण्ड खड़े करते रहेंगे, तो इससे क्या त्रिकाल में भी अपने को ब्राह्मण घोषित कर सकोगे?। सहनशीलता, सुशीलता, अक्रोधिता, निरभिमानिता, अमत्सरता, निरीहता, विद्वत्ता आदि आदर्श गुणों को मनुष्य जब धारण कर लेता है, तब वह अकुलीन होकर भी कुलीन (उत्तम) कहाता है और इन गुणों से जो रहित होता है वह कुलीन होकर भी अकुलीन (नीच) माना जाता है। जन्म से सभी मनुष्य शूद्र होते हैं, परन्तु बाद में यथा सस्कारो के कारण उनमें उत्तमता या अधमता का प्रादुर्भाव होता है जो उनको योग्यता या अयोग्यता के रूप में परिणत करती है। इसी कारण फिर वे ससार में प्रशसा एव निन्दा के पात्र बनते हैं। मनुस्मृतिकारने लिखा है कि—

समार में कम दर्जे क लोग गाली पर गाली न देने से या अपकार का बदला अपकार से न लेने से अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। गाली की एवज में गाली का प्रयोग करने से फिसाद घटता नहीं, अधिक बढ़ता है और चुप रहने से उसका समूल उच्छेद हो जाता है। कोई यह भी नहीं जानता कि किसने किसको गाली दी। न्याय भी है कि कटकफल बोने से कांटा ही पैदा होता है, ईख नहीं।

किसी समय विश्वामित्र और वशिष्ठ क परस्पर बड़ा अन बनाव रहा हुआ। विश्वामित्र थे क्षत्रिय पर महान् तपस्वी। वे कहते थे कि सब कोई मुझ को ब्राह्मण कहा करें। यह बात उस समय के ब्राह्मणों को, विशेषत वशिष्ठजी को अच्छी न लगी। वशिष्ठजीने कहा—आप महान् तपस्वी अवश्य हैं, पर ब्राह्मण नहीं कहला सकते, राजर्षी हैं। इस कारण दोनों ऋषियों में तनातनी चलने लगी। विश्वामित्र क्षत्रिय स्वभावोचित रोष में आकर सोचने लगे कि—वशिष्ठ को परमधाम पहुँचाय बिना मनोरथ सफल नहीं होगा। एक दिन वशिष्ठजी एकान्त में नयनपलकों को बन्द किये हुए ध्यान में बैठे थे। उस समय काजल की आँधी चलाती हुई कृष्णपक्ष की अंधियारी निशा देवी चारों ओर अपना साम्राज्य जमाए हुये थी। आकाश में काले मेघ मडल सी नीरवतामयी निशीथिनी को निमन्त्रण देने के लिये किसी बनाव स्थल को दौड़े जा रहे थे। जिधर देखो उधर काले वस्त्र पहन घनघटा प्रहरी बन कर पहरा दे

ही मनुष्य उत्तम, कुलीन एव आदर्श माना जाता है, जाति और कुल से नहीं। इसलिये मनुष्य को अच्छे गुण सपादन कर, उत्तम बनने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह आदर्श और पूज्य हो सकेगा।

यह वचन सुनते ही विश्वामित्र को अपनी भूल समझ में आ गई और वे वशिष्ठजी के पैरों में गिर कर अपने अपराधों की क्षमा याचना करने लगे। वशिष्ठजीने क्षमा दकर कहा-जिस समय आप क्रुद्ध हो जो कुछ कहते थे वह सब तुच्छातितुच्छ दिखाई देता था। इस समय आपके हृदय में वह वासना न रहने से हम आपको आदरणीय एव महा पुरुष मानते हैं। बस, आपके हृदय में मान, क्रोध, छल या मत्सर नहीं होगा तो सब कोई आपको ब्राह्मण से भी अधिक पूज्य मानेंगे। कहा भी है कि

क्षमा सकल गुण से बडी, क्षमा पुण्य को मूल।
क्षमा जाहि हिरदे बसे, ताहि दैव अनुकूल ॥ १ ॥
अपराधी निज दोषतें, दुख पावत बसु जाम।
क्षमा-शील निज गुणनतें, सुखी रहत सब ठाम॥२॥

सारांश यह है कि क्षमा रहित मनुष्य अपने किये अपराधों के कारण प्रत्येक स्थान में दुःख एव सकटों को पाये बिना नहीं रहत। क्षमाशील मनुष्य अपने क्षमागुण से हर जगह सुख प्राप्त कर, अपने जीवन को आदर्श एव सद्गु-

शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेव तु, विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥

—सद् गुणों से शूद्र ब्राह्मणत्व को और असद्-गुणों से ब्राह्मण शूद्रत्व को पाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के विषय में समझना चाहिये। महाराजा जनक क्षत्रिय थे, परन्तु विद्या एवं न्यायनिष्ठ होने से वे ब्राह्मण कहलाये (सतपथब्राह्मण ११, ६, २, १) इलुशापुत्र दासीजात होकर भी ब्रह्मर्षी कहाये (ऐतरयब्राह्मण २, ११) दासीपुत्र सत्य काम, जवाल, शिष्टगुणों से ब्राह्मण कहलाय (छान्दोग्योप निषद् ४, ४) इसी प्रकार विश्वामित्र, शृङ्गी, कौशिक, गौतम, वाल्मिकी, पारासर, द्रौण, रैवच आदि ऋषि भी ब्रह्मर्षी कह लाये हैं। महाभारतकार वेदव्यासने कहा है कि—

न कुलेन न जात्या वा, क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।
चण्डालोऽपि हि व्रतस्थो, ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ! ॥
शूद्रोऽपि शीलसपन्नो, गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीन., शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत् ॥

—हे युधिष्ठिर ! कुल, जाति और कर्म (धंधे) से कोई ब्राह्मण नहीं होता। चण्डाल भी उत्तम आचरण से ब्राह्मण होता है। शील और सद्गुणों से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण होता है और क्रिया से हीन ब्राह्मण भी शूद्र से अधिक शूद्र होता है। कहने का मतलब यह है कि सद्गुणों क धारण करन से

ही मनुष्य उत्तम, कुलीन एवं आदर्श माना जाता है, जाति और कुल से नहीं। इसलिए मनुष्य को अच्छे गुण संपादन कर, उत्तम बनने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह आदर्श और पूज्य हो सकेगा।

यह वचन सुनते ही विश्वामित्र को अपनी भूल समझ में आ गई और वे वशिष्ठजी के पैरों में गिर कर अपने अपराधों की क्षमा याचना करने लगे। वशिष्ठजीने क्षमा देकर कहा-जिस समय आप क्रुद्ध हो जो कुछ कहते थे वह सब तुच्छातितुच्छ दिखाई देता था। इस समय आपके हृदय में वह वासना न रहने से हम आपको आदरणीय एवं महा पुरुष मानते हैं। बस, आपके हृदय में मान, क्रोध, छल या मत्सर नहीं होगा तो सब कोई आपको ब्राह्मण से भी अधिक पूज्य मानेंगे। कहा भी है कि

क्षमा सकल गुण से बड़ी, क्षमा पुण्य को मूल।
क्षमा जाहि हिरदे बसे, ताहि दैव अनुकूल ॥ १ ॥
अपराधी निज दोषतें, दुख पावत बसु जाम।
क्षमा-शील निज गुणनतें, सुखी रहत सब ठाम ॥२॥

सारांश यह है कि क्षमा रहित मनुष्य अपने किये अपराधों के कारण प्रत्येक स्थान में दुःख एवं संकटों को पाये बिना नहीं रहते। क्षमाशील मनुष्य अपने क्षमागुण से हर जगह सुख प्राप्त कर, अपने जीवन को आदर्श एवं समु-

शत्रु क्षमा लेता है। उक्त कथा से यह शिक्षा लेना चाहिये कि जिस मनुष्य में क्षमा है चाहे वह बल-हीन हो उसका निर्दयी दुष्ट मनुष्य कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। नीति भी है कि 'क्षमाधनु करे यस्य, दुर्जन' किं करिष्यति ?' क्षमा रूपी धनुष्य जिसके हाथ में है उसको दुर्जन कभी परे शान नहीं कर सकता। एक हिन्दी कविने कहा है कि—

क्षमा बड़न को होत है, ओछन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगुने मारि लात॥१॥

क्षमागुण के कारण प्रत्येक व्यक्ति महत्ता प्राप्त करता है। महान् पुरुष ही क्षमा धारण कर सकता है। जो क्षमा नहीं रखता वह महान होता हुआ भी तुच्छ प्राणियों की श्रेणी में गिना जाता है। महापुरुषों का आभूषण क्षमा है। इसीसे 'क्षमा वीरस्य भूषण' यह उक्ति प्रचलित हुई है। भरा हुआ घड़ा कभी नहीं झलकता, अधूरा झलकने लगता है। कहा है कि—

भरा सो झलके नाहीं, झलके सो ही अद्धा।
घोड़ा सो भूके नहीं, भूके सो ही गद्धा॥ १॥

क्षमागुण का परिपालन करने से मनुष्य छोटी श्रेणी में नहीं किन्तु महान् पुरुषों की श्रेणी में शोभा पात्र होता है। किसी समय भृगुऋषीने क्रोध के आवेश में श्रीकृष्ण की छाती में लात मार दी, परन्तु श्रीकृष्णने कहा-महर्षी क्षमा

करें, मेरा शरीर कठोर है, आपके चरण कोमल हैं, समय है मेरी कर्कश छाती में मारने से आपके चरण को कहीं चोट लगी होगी !, ऐसा कह कर वे उनके पाँव दाबने लगे। बस, इसीका नाम क्षमा, या सहनशीलता है जिसे देख कर प्रत्येक व्यक्ति पानी पानी हो जाता है और उनका अनुकरण करने लग जाता है। सहनशील श्रीकृष्ण का उदाहरण भारतीय इतिहास में एक प्रोज्ज्वल एवं सजीव बोधपाठ है जो सदा के लिये इतिहास के पृष्ठों पर अंकित रहेगा। 'क्षमाया स्थाप्यते धर्म' क्षमा धर्म का आधार स्तम्भ है। इसके बिना तप, जप, ध्यान, भक्ति, दया आदि धर्मों का वास्तविक फल प्राणियों को नहीं मिलता। इसलिये व्यावहारिक और धार्मिक सभी कार्यों में प्राणी मात्र को सर्व से पहिले क्षमागुण का आश्रय लेना चाहिये जिससे अन्तिम ध्येय तक पहुँचा जा सके।

---

३ जहि मद–अभिमान कभी न करो।

मद के अन्यतम अर्थों में एक अर्थ है अहङ्कार, घमण्ड, या अभिमान। यह एक ऐसी वस्तु है जो आज कल तो प्राय: हर जगह पर बड़ी सुलभ है। जिधर देखो उधर छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पुरुषों तक अभिमानने पूरा नहीं तो अंशत: अपना अधिकार जमा रक्खा है।

प्रचलित नवयुग में इसका जितना विस्तार हो चला है उतना प्राचीन युगों में शायद ही होगा। आबाल वृद्ध सभी इसके शिकार बने हुए हैं। यदि किसी में यह बाह्य रूप से प्रतीत होता है, तो किसी में आभ्यन्तर रूप से, पर साधारणसी झलक से तो कोई बचा दृष्टिपथ नहीं होता। थोड़ासा कोई भी किसी अपेक्षा से बड़ा हुआ तो वह अपने को शीघ्र ही समाज में, राष्ट्र में, या कुछ समय के लिये विश्वभर में अद्वितीय, विद्वान्, कलाकार एवं सर्वगुणी मान बैठता है। वह समझता है कि मेरे समान आज समाज, या राष्ट्र में कोई मनुष्य नहीं है, सर्वेसर्वा मैं ही हू। यह नहीं जानता कि ऐसा समझने से मुझे कितनी हानि का सामना करना पड़ेगा। क्या कहीं अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने पर कोई महान् पुरुष कहला सकता है ? । इस प्रकार का अभिमानी व्यक्ति धार्मिकता का उपदेश देते हुए अपनी तुच्छ वृत्ति पर कलंकित हुए बिना नहीं रह सकता। वह अभिमान के वश हो अपने को समाज से कोसों दूर अवनति के गहरे गर्त्त में गिराने का सतत प्रयत्न करता है। अभिमानी यदि उपदेशक है तो वह अवश्य ही अपनी मनोमालिन्यता का सजीव परिचय देते हुए महापुरुषों के मुखारविन्द से निकले हुए सैद्धान्तिक शब्द-सुमनों पर तुषारापात के साथ साथ उन पौधों पर जहाँ से शब्द-सुमन विकसित होते हैं, कठोर कुठाराघात कर समाज एवं उसके नियन्ता के साथ भी

विश्वासघात करता है। अत' प्रत्येक मनुष्य को, विशेषतः उनको जो उपदेशक हैं और जो जनता को उपदेश प्रदान कर सत्पथ पर ले जाना चाहते हैं, निरभिमानी होने की पूरी आवश्यकता है।

निरभिमानिता मनुष्य के विनयशील होने का एक सजीव चिह्न है। विनीत मनुष्य प्रत्येक स्थान पर आदृत होता है, वह यदि शत्रु के घर भी जायगा, तो अपनी विनय-शीलता के कारण आदरपात्र ही बनेगा। विनीत मनुष्य अपने विनयगुण से उचित, अनुचित को सहन कर समाज में आदरणीय कहला सकता है। समाज भी उसको प्रत्येक कार्य म आदरणीय स्थान पर नियुक्त करता है– जिससे उसकी शोभा चौगुनी बढ़ती है। विनयहीन अभिमानी व्यक्ति अपनी मदभरी उच्छृंखल वृत्तियों से सब जगह अपमानित होता है और उत्तम गुण सपादन से प्रतिपल वंचित रहता है। वह अज्ञ अपने हृदय की कलुषित वृत्तियों से छुटकारा नहीं पाता, जिनके कारण वह हर जगह सन्मान के बदले अपमान एव तिरस्कार पाया करता है। अभिमानी अपन सुलभ साध्य कई कार्य अपनी मदमयी वृत्ति से विगाड बैठता है। उसक अन्दर सहनशीलता का अत्यन्त अभाव रहता है–जिससे वह व्यक्तिगत, या सामूहिक उचित अथवा अनुचित आक्षेप एव आरोप आदि कुछ भी सहन नहीं कर सकता। असहनशीलता क परिणाम स्वरूप

दो, एक व्यक्ति, या उसका सारा कौटुम्बिक परिवार ही नहीं, सारा समाज उससे विपरीत हो जाता है। समाज में वह एकाकी रह जाता है। जहाँ आजकल की परिस्थिति में समाज, राष्ट्र और देश अपनी सामूहिक संघसंगठन शक्ति द्वारा सारे राष्ट्र को उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ाने का सतत प्रयत्न कर रहा है और उसमें कुछ सफल भी होता जा रहा है। वहाँ समाजभिन्न एकाकी पुरुष किस तरह अपना व्यक्तिगत, या सामूहिक राष्ट्र कल्याण करने की क्षमता रख सकता है ?, विभिन्नमत एवं मदवृत्ति से मनुष्य निस्सन्देह अपना महान् अहित करता हुआ स्व पर का विश्वासघात करता है। ऐसे अभिमानी व्यक्ति को कितना ही समझाया जाय पर उसका सत्पथ आरूढ़ होना दुष्कर ही है। उसको अपना दम्भपथ ही अच्छा लगता है। यदि कोई शान्ति और विनय के साथ कुछ शिक्षा भी देगा तो वह निर्दोष व्यक्ति पर बिगड़े बिना नहीं रहेगा—उलटा उसको परेशानी में डालने का प्रयत्न करेगा। ऐसे मदमत्त प्राणि को सामान्य मनुष्य तो क्या दिग्गज विद्वान् भी नहीं समझा सकते। नीतिकारोंने लिखा है कि—

अज्ञः सुखमाराध्य, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्ध, ब्रह्मापि त नर न रञ्जयति ॥ १ ॥

—अपठित मूर्ख और अधिक बुद्धिमान को सहज में

प्रसन्न किया जा सकता है, परन्तु अर्धदग्ध (थोडे ज्ञानवाले) अभिमानी पुरुष को ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता।

संसार में तीन तरह के मनुष्य हैं—अज्ञ, सुज्ञ और अल्पज्ञ। जो अपने भले बुरे का ज्ञान नहीं रखते और जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है, उन अज्ञों को समझाना कोई कठिन नहीं है। वे समझाने पर जल्दी समझ कर बात को मंजूर कर लेते हैं। युक्त, अयुक्त, उचित, अनुचित और सत्, असत् को भलीभाँति समझनेवाले सुज्ञों को समझाना कठिन नहीं। परन्तु जो लोग न पूरे विद्वान् हैं और न निरे मूर्ख, स्वल्पज्ञान से ही अपने को महाज्ञानी मानते हैं ऐसे अल्पज्ञ अभिमानियों को मनुष्य क्या ब्रह्मा, या सर्वज्ञ भी नहीं समझा सकता। अल्पज्ञ लोग घमंड के कारण किसी बात को न जानने पर भी किसीसे पूछते नहीं हैं, अतः उनकी उन्नति नहीं होती, व ऐंठ में ही अपने को बरबाद कर बैठते हैं, परन्तु वे मानव जीवन को सफल नहीं कर पाते। कविवाक्य है कि—

फूले फले न बेंत, यदपि सुधा बरसहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंचि सम॥ १॥
बिगर्यो होय कुसंग जिहि, कौन सके समुझाय।
लसन बसाये बसन को, कैसे सके बसाय॥ २॥

ठीक ही है कि कुत्ते की पूछ को यदि बारह वर्ष तक

तेल में डाल दी जाय, पर उसकी वक्रता नहीं मिटती—वह सीधी नहीं होती। यही दशा मदमत्त पुरुषों की है। साधारण ज्ञान मिला, या निपुणता मिली कि अभिमानी अपने को अद्वितीय मान बैठता है। लाख तरह से समझाने पर भी वह अपनी वक्रता (हठ) को नहीं छोड़ता। आजकल के वायु मण्डल में यह हवा अधिक रूप से पाई जाती है। इसका वेग इतना विस्तृत हो चला है कि इसके दुष्परिणाम, या अभिशाप स्वरूप सच्चे निरभिमानी एवं साधुवृत्तिवाले मनुष्यों पर भी लोग दम्भात्मक सन्देह के बादल छाये बिना नहीं रहते और निरभिमानी व्यक्ति को अहम्मानी समझने लगते हैं। कहावत भी है कि सूखे शामिल आला भी जलता है। सभी मनुष्य दम्भता में घिर हुए नहीं होते और जो दम्भी हैं व कभी छिपे नहीं रहते। कुछ भी हो, अन्तत अभिमान—अहङ्कार मानवजीवन को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला दुरुह विषैला नाग है—जिसके द्वारा डसा हुआ मानव अपने अमूल्य जीवन से हाथ धो बैठता है। अभिमान के नशे में चूर हुए अभिमानी को सत्, असत्, उचित, अनुचित, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का लेशमात्र ध्यान नहीं रहता। यही अभिमान के अनौचित्य का अक्षुण्ण प्रमाण है। इसके प्रभाव में घिरा हुआ मनुष्य सभी क्रियात्मक धार्मिक कृत्यों से सर्वथा वञ्चित रहता है और दुर्गति का पात्र बनता है। मदान्ध मनुष्य अहिंसा आदि

धर्मों को समुचित परिपालन करता हुआ भी उसका वास्तविक फल नहीं पा सकता। वह मदमत्त गज की तरह विश्व का भला नहीं कर सकता और अपना अहित ही करता है। कहा भी है कि—

शमालान भञ्जन् विमलमतिनाडिं विघटयन्
किरन् दुर्वाक्पांसूत्करमगणयन्नागमसृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयनयवीथिं विदलयन्,
जनः कं नानार्थं जनयति मदान्धो द्विप इव ? ॥ १ ॥

—मदान्ध पुरुष मदोन्मत्त हाथी की तरह शान्ति रूपी स्तम्भ को तोड़ कर, निर्मल बुद्धि रूपी रस्सी के टुकड़े कर, दुर्वचन रूपी धूल उड़ाता है और शास्त्र रूपी अङ्कुश को न मान कर पृथ्वी पर स्वच्छन्द हो न्याय रूपी मार्ग को उजड़ करता हुआ किस अनर्थ को पैदा नहीं करता ?। इससे सिद्ध है कि अभिमान सर्व अनर्थों की खान है। कविने क्या अच्छा कहा है कि—

तनिक ज्ञान को प्राप्त कर, जो करता अभिमान।
धिक् जीवन धिक् ज्ञान है, उसका श्वान समान ॥१॥

धर्म पालने, या धर्मकार्य करनेवाले पुरुषों को अहङ्कार से सर्वथा अलग रहना चाहिए। अभिमान रहित मनुष्य सद्धर्मानुयायी कहलाने के अधिकारी हैं। जब तक मनुष्य

तेल में डाल दी जाय, पर उसकी वक्रता नहीं मिटती–वह सीधी नहीं होती। यही दशा मदमत्त पुरुषों की है। साधारण ज्ञान मिला, या निपुणता मिली कि अभिमानी अपने को अद्वितीय मान बैठता है। लाख तरह से समझाने पर भी वह अपनी वक्रता (हठ) को नहीं छोड़ता। आजकल के वायु मण्डल में यह हवा अधिक रूप से पाई जाती है। इसका वेग इतना विस्तृत हो चला है कि इसके दुष्परिणाम, या अभिशाप स्वरूप सच्चे निरभिमानी एवं साधुवृत्तिवाले मनुष्यों पर भी लोग दम्भात्मक सन्देह के बादल छाये बिना नहीं रहते और निरभिमानी व्यक्ति को अहम्मानी समझने लगते हैं। कहावत भी है कि सूखे शामिल आला भी जलता है। सभी मनुष्य दम्भता में घिरे हुए नहीं होते और जो दम्भी हैं वे कभी छिपे नहीं रहते। कुछ भी हो, अन्ततः अभिमान–अहङ्कार मानवजीवन को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला दुरुह विषैला नाग है–जिसके द्वारा डसा हुआ मानव अपने अमूल्य जीवन से हाथ धो बैठता है। अभिमान के नशे में चूर हुए अभिमानी को सत्, असत्, उचित, अनुचित, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का लेशमात्र ध्यान नहीं रहता। यही अभिमान के अनौचित्य का अक्षुण्ण प्रभाव है। इसके प्रभाव में घिरा हुआ मनुष्य सभी क्रियात्मक धार्मिक कृत्यों से सर्वथा वञ्चित रहता है और दुर्गति का पात्र बनता है। मदान्ध मनुष्य अहिंसा आदि

धर्मों को समुचित परिपालन करता हुआ भी उसका वास्तविक फल नहीं पा सकता। वह मदमत्त गज की तरह विश्व का भला नहीं कर सकता और अपना अहित ही करता है। कहा भी है कि—

शमालान भञ्जन् विमलमतिनाडिं विघटयन्
किरन् दुर्वाक्पासूत्करमगणयन्नागमसृणिम्।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयनयवीथिं विदलयन्,
जनः कं नानार्थं जनयति मदान्धो द्विप इव? ॥ १ ॥

—मदान्ध पुरुष मदोन्मत्त हाथी की तरह शान्ति रूपी स्तम्भ को तोड़ कर, निर्मल बुद्धि रूपी रस्मी के टुकड़े कर, दुर्वचन रूपी धूल उड़ाता है और शास्त्र रूपी अंकुश को न मान कर पृथ्वी पर स्वच्छन्द हो न्याय रूपी मार्ग को उजड़ करता हुआ किस अनर्थ को पैदा नहीं करता? । इससे सिद्ध है कि अभिमान सर्व अनर्थों की खान है। कविने क्या अच्छा कहा है कि—

तनिक ज्ञान को प्राप्त कर, जो करता अभिमान।
धिक् जीवन धिक् ज्ञान है, उसका श्वान समान ॥१॥

धर्म पालने, या धर्मकार्य करनेवाले पुरुषों को अहङ्कार से सर्वथा अलग रहना चाहिये। अभिमान रहित मनुष्य सद्धर्मानुयायी कहलाने के अधिकारी हैं। जब तक मनुष्य

अपने हृदय में मद, माया, मोह आदि दुर्गुणों को रहने देता है तब तक वह धर्म को जान नहीं सकता। उसे धर्मवस्तु मिल नहीं सकती। क्यों कि—

मद-माया-परित्यागी, लोभमोहविनाशकः।
अकामी क्रोधहीनश्च, धर्ममाप्नोति मानवः ॥ १ ॥

—जो पुरुष अहङ्कार, माया, लोभ, मोह, काम, तथा क्रोध इन अन्तरङ्ग शत्रुओं से सर्वथा अलग है, वही धर्म को प्राप्त कर सकता है।

आज ससार में कई मनुष्य ऐसे हैं जो सद्धर्म कर्म-सपन्न वश में उत्पन्न होकर भी अभिमान और कुसगादि दुर्गुणों के वश हो, विधर्मी होते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वे इन्हीं के कारण अपनी सैद्धान्तिक एव धार्मिक मर्यादा पर लेशमात्र ध्यान न देते हुए आत्मानुकूल अकृत्य करते नहीं लजाते। चाहे उस अनौचित्यमय अकृत्य का भविष्य में अपने ऊपर, या अपने उच्च वश पर आपत्ति भी आ पड़े, फिर भी वे विधर्मी मदान्ध उस पर कुछ ध्यान नहीं देते। इससे सहज पता लग सकता है कि-अभिमान कितना त्याज्य एव निन्दनीय है। अपना हित चाहनेवालों को, विशेषत' मोक्षपथ के राहियों को इस दुर्विषय से सदा अलग रहना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को निरभिमानी होने की परमावश्यकता है, क्यों कि अभिमान अध'पतन की प्रथम

सीढी है। चाहे मनुष्य कितना ही पढा लिखा विद्वान्, धनवान, वैज्ञानिक, तपस्वी और यशस्वी क्यों न हो, किन्तु अभिमानिता के कारण उसे गिरते देर नहीं लगेगी। विश्व में आज ऐसा कौन प्राणि है जो मदान्धता से नीचे न गिरा हो ?। मनुष्य की तो क्या गणना ?, बड़े बड़े चक्रवर्ती और शासनसम्राट् भी इस गर्हणीय अभिमान के कारण अपनी शासनसत्ता से सर्वदा के लिये हाथ धो बैठे हैं। लंकाधिपति रावण, युद्धवीर दुर्योधन, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल, बलि आदि महाप्रतापी राजाओं को भी इसी अभिमानने मिटिया मेट कर डाला जिनके पीछे नामनिशान भी नहीं रहा।

धर्म का गूढतत्व जितना निरभिमानिता में छिपा हुआ है उतना किसी में नहीं। मनुष्य इसीके आधार पर अपने को एक सच्चा धर्मात्मा बना सकता है। निरभिमानी होना साधुता एवं मानवता की खरी कसौटी है। विनयशील एवं मदहीन वही मनुष्य हो सकता है जो अपने आपको मुक्तिपथ की ओर पहुँचाना चाहता है। द्रव्याधिक्य एवं विद्वत्ता कुलीनता और यशस्विता के द्योतक नहीं हैं, इनकी द्योतकता तो एक निरभिमानिता ही है। निरभिमानी पुरुष समाज, राष्ट्र और सब में कुलीन, यशस्वी एवं जातिवान् माना जाता है। मदहीन मनुष्य नम्र होता है और वह अपनी नम्रता से सब को आकृष्ट करता है। कहा भी है कि–

नमे सो आंबा आमली, नमे सो दाड़िम दाख।
आक बिचारा क्या नमे, जिसकी ओछी जात ॥१॥

—डालियों में फल लगने से आम, इमली, अनार, दाख आदि वृक्ष नीचे झुक जाते हैं, परन्तु पामर एवं ओछी जातिवाला आक कभी नहीं नमता। वह तो नीचा नमना नहीं जानता, टूट कर पड़ना ही जानता है।

जो मनुष्य प्रारम्भ से ही उच्च जातीय एवं सत्कुलीन निरभिमानी होते हैं, उनमें स्वाभाविक नम्रता और विनय शीलता विद्यमान रहती है। अकुलीन दुष्ट प्रकृतिक मनुष्यों में ये गुण नहीं होते। वे तो कलङ्कित नरकीट हैं जो स्वपर को केवल दुःखोत्पादक होते हैं। ऐसे नरकीट जहाँ जाते हैं वहाँ अपनी क्षुद्रता की छाप लगाये बिना नहीं रहते। समाज के सामने अपनी क्षुद्र अधमता का पूरा परिचय दे डालते हैं—जिससे वे सब जगह अनादर दृष्टि से देखे जाते हैं। फिर भी वे अपनी दुष्टप्रकृति को नहीं छोड़ते। वस्तुतः उन मनुष्यों का जीवन धिक्कार के लायक है जो अभिमानी बन कर अपने आपको बड़ा समझते हैं। उनका सिर सदा अपमान की चोटें ही सहता रहता है, किसी काम में सफल मनोरथ नहीं होते।

धारानगरी के शासक राजा भोज विद्वानों की कदर में सारे संसार में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनका

ध्येय था कि कोई भी विद्वान् राज-द्वार से निराश हो कर न जावे। इसलिये कई विप्र अपनी अपनी कृतियों से राजा की प्रशंसा करके खूब द्रव्य प्राप्त करते थे। एक दिन राजा भोज सभा में विराजमान थे। उनके चारों ओर विद्वान् मण्डली सुशोभित थी। सभा में एक पण्डित अपने को विद्वान् मानता हुआ आ कर कहने लगा कि राजन्! आपने कई विद्वानों के सारगर्भित काव्य सुने होंगे, परन्तु आज मेरा भी एक दोहा जिसमें पदरचना का चमत्कार और विद्वत्ता कूट कूट कर भरी है। सुनिये—

मर्द तो है मूछ बाँका, नैन बाँकी गोरियाँ।
गाय तो है सींग बाँकी, रग बाँकी घोरियाँ ॥ १ ॥

—मर्द वही है जिसकी मूछें बाँकी हो, स्त्रियाँ वही हैं जिनके नेत्र बाँके हों, गाय वही है जिसके सींग बाँके हों और घोड़ी वही है जिसका रंग बाँका (मनोहर) हो।

दोहा को सुन कर सारी सभा अवाकसी हो गई। परस्पर उसके लिये सभा में विचार विनिमय होने लगा। इतने में किसी गडरियेने सभा में आ कर कहा कि महाराज! पण्डितजीने जो दोहा कहा है वह ठीक नहीं है— उसका मार्मिक भाव कुछ अच्छा नहीं है। इसलिये—

यह पंडित बड़ा अनाड़ी, इसके मारु खींच कुल्हाडी।
इसने सारी सभा बिगाडी, मुख से झूठी बातां काढ़ी॥१॥

नमे सो आबा आमली, नमे सो दाड़िम दाख ।
आक बिचारा क्या नमे, जिसकी ओछी जात ॥१॥

—डालियों में फल लगने से आम, इमली, अनार, दाख आदि वृक्ष नीचे झुक जाते हैं, परन्तु पामर एवं ओछी जातिवाला आक कभी नहीं नमता । वह तो नीचा नमना नहीं जानता, टूट कर पड़ना ही जानता है ।

जो मनुष्य प्रारम्भ से ही उच्च जातीय एवं सत्कुलीन निरभिमानी होते हैं, उनमें स्वाभाविक नम्रता और विनयशीलता विद्यमान रहती है । अकुलीन दुष्ट प्रकृतिक मनुष्यों में वे गुण नहीं होते । वे तो कलङ्कित नरकीट हैं जो स्वपर को केवल दुःखोत्पादक होते हैं । ऐसे नरकीट जहाँ जाते हैं वहाँ अपनी क्षुद्रता की छाप लगाये बिना नहीं रहते । समाज के सामने अपनी क्षुद्र अधमता का पूरा परिचय दे डालते हैं-जिससे वे सब जगह अनादर दृष्टि से देखे जाते हैं । फिर भी वे अपनी दुष्टप्रकृति को नहीं छोड़ते । वस्तुतः उन मनुष्यों का जीवन धिक्कार के लायक है जो अभिमानी बन कर अपने आपको बड़ा समझते हैं । उनका सिर सदा अपमान की चोटें ही सहता रहता है, . किसी काम में सफल मनोरथ नहीं होते ।

धारानगरी के शासक राजा भोज विद्वानों की कदर से सारे संसार में ख्याति प्राप्त कर चुके थे । उनका

ध्येय था कि कोई भी विद्वान् राज-द्वार से निराश हो कर न जावे। इसलिये कई विज्ञ अपनी अपनी कृतियों से राजा की प्रशंसा करके खूब द्रव्य प्राप्त करते थे। एक दिन राजा भोज सभा में विराजमान थे। उनके चारों ओर विद्वान् मण्डली सुशोभित थी। सभा में एक पण्डित अपने को विद्वान् मानता हुआ आ कर कहने लगा कि राजन्! आपने कई विद्वानों के सारगर्भित काव्य सुने होंगे, परन्तु आज मेरा भी एक दोहा जिसमें पदरचना का चमत्कार और विद्वत्ता कूट कूट कर भरी है। सुनिये—

मर्द तो है मूछ बाँका, नैन बाँकी गोरियाँ।
गाय तो है सींग बाँकी, रग बाँकी घोरियाँ ॥ १ ॥

—मर्द वही है जिसकी मूछें बाँकी हो, स्त्रियाँ वही हैं जिनके नेत्र बाँके हों, गाय वही है जिसके सींग बाँके हों और घोड़ी वही है जिसका रग बाँका (मनोहर) हो।

दोहा को सुन कर सारी सभा अवाकसी हो गई। परस्पर उसके लिये सभा में विचार विनिमय होने लगा। इतने में किसी गडरियेने सभा में आ कर कहा कि महाराज! पण्डितजीने जो दोहा कहा है वह ठीक नहीं है—उसका मार्मिक भाव कुछ अच्छा नहीं है। इसलिये—

यह पंडित घड़ा अनाड़ी, इसके मारु खींच कुल्हाडी।
इसने सारी सभा बिगाडी, मुख से झूठी बातां काढी॥१॥

यह पण्डित नहीं, निरा मूर्ख है। ऐसे अभिमानी का मुख बन्द कर देना अच्छा है। विद्वानों की सभा में जो मदमत्त असत्य बातें कहते नहीं लजाता उसे मनुष्य नहीं, जगली रोझ कहना चाहिये। आप सोचिये कि किसीकी मूँछे तो बाँकी हैं पर उनमें वीरता नहीं तो वे मर्द किस काम के? वह तो पशु से भी गया बीता है। किसी स्त्री की आँखे तिरछी सुन्दरतम है पर वह दुश्चरित्र एवं बदचलन है तो उसकी वे सुन्दर आँखे निकम्मी हैं। गाय के सींग बाँके अच्छे हैं पर वह दूध नहीं देती हो तो उसका अच्छापन किस काम का?, निकम्मा है। इसी तरह घोड़ी का रग अच्छा है पर उसकी चाल बेढब है तो वह घोड़ी किस काम की?। वास्तव में दोहा इस ढग का होना चाहिये कि—

मर्द तो रण-शूर बाँका, शील बाँकी गोरियाँ।
गाय तो है दूध बाँकी, चाल बाँकी घोरियाँ॥ १॥

—मर्द मनुष्य वही है जो युद्ध के समय अपनी शूरवीरता से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देता है। स्त्रियाँ वही सुन्दर हैं जो अपनी सुशील सुगंधी से सारे विश्व को सुवासित कर देती हैं। गाय वही अच्छी हैं जो दूध देकर अपने पालक को सन्तुष्ट रखती हैं और घोड़ी वही प्रशंसनीय है जो चाल में अच्छी होती है।

गडरिये का सार गर्भित भाषण सुन कर सभा और

राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह मदमत्त पण्डित सारी सभा के सामने लज्जित हुआ। राजा भोजने मानी पडित की अपेक्षा गडरिये को भारी सन्मान और पारितोषिक दिया। इस दृष्टान्त का सार यही है कि पण्डित अभिमान के कारण राजसभा में अपमान पाया और गडरिया निरभिमानिता से सन्मान पाया, अत' अभिमान करना अच्छा नहीं। आज संसार में जितने महापुरुष दृष्टिगोचर हैं वे सब इसी निर-भिमान गुण के कारण पूज्य माने जा रहे हैं। अभिमानी मनुष्य अपनी वर्त्तमान अवस्था में चाहे सुखी हो, परन्तु उसका भविष्य काल बहुत बुरी तरह बिगड़ता है। जिस प्रकार मैं मैं करनवाले बकरे का गला काटा जाता है और मैंना कहने पर भी मैना पक्षी का बड़े प्रेम से लोगों के द्वारा पालन किया जाता है। उसी प्रकार अभिमानी व्यक्ति का बकरे के समान हाल होता है और निरभिमानी व्यक्ति का मैना पक्षी के समान सर्वत्र,सन्मान होता है। कहा है कि—

सब से ऊँचा मान आपको मानी करता काम जभी।
तब उसका प्रत्येक स्थान पर करते हैं अपमान सभी॥

धर्म कर्म और कुल-मर्यादा डाल कुए में फिरता है।
अवनति के गम्भीर गर्त्त में अभिमानी नित्त गिरता है।

वस्तुत अभिमानी मदभरे नशे में मत्त हो प्रथम अपने को सब से बड़ा समझ कर हरएक कार्य को करने

के सपर्क में रक्खें जिससे वे भविष्य में अच्छे सस्कारवाले हों। इस प्रकार बचपन से सुसस्कृत बालक बड़ा होने पर स्वपर को पापों से बचा कर सुधारने में समर्थ हो सकता है। ससार में प्राणिमात्र को चक्र के समान भ्रमण करानेवाले पापकर्म ही हैं। जब तक जन्म जन्मान्तरों के किये हुए पापकर्मों से जीवात्मा छुटकारा न पा जाय, तब तक वह परमात्मा के रूप में परिणत नहीं हो सकता। यदि आत्मा सुसस्कारी बन कर पापकर्म न करे तो उसकी नैया बहुत जल्दी पार लगेगी और वह सिद्ध, बुद्ध बन सकता है। पाप-पथ की ओर झुकानेवाले ससार में काम क्रोधादि विषम विषय हैं, इनका विजय कर लेने से जीवों को मुक्तिपथ मिलना कठिन नहीं है। कहा है कि—

यदि शिवनगरपिपासा,
भवे जिहासा च वो भवेद् भव्याः।
तदमी विषमा विषया,
किंपाकफलोपमास्त्याज्याः ॥ १ ॥

इस सदुपदेश का पूर्णतया परिपालन कर पापवर्द्धक विषय प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा से अलग कर देना चाहिये, क्योंकि पवित्रात्मा को अपवित्र बनानेवाले यही महादोष हैं। भेदोपभेद से पापजनक कार्यों की कोई सख्या नहीं है, परन्तु मुख्य पापकार्य अठारह प्रकार के हैं-जिनमें

से प्राणी किसी एक का आचरण करने से पाप का भागी दार बनता है। नित्यप्रति की जानेवाली प्रतिक्रमणक्रिया में अष्टादश पापस्थानकों की आलोचना की जाती है। आजकल की परिस्थिति कुछ ऐसी है कि लोग केवल इनकी नाम रटना कर लेना जानते हैं, पर उनका परित्याग करना नहीं जानते। साधु मुनिराजों के लिये तो इनका परित्याग करना आवश्यकीय है ही। परन्तु सांसारिक बन्धनों से बद्ध गृहस्थियों को भी इनका यथावत् त्याग करना उतना ही आवश्यक है जितना कि मुनिराजों के लिये है। मुनि इनसे सर्वत अलग रहते हैं, तो गृहस्थ दशत।

पहिला पाप स्थानक प्राणातिपात है। इसका अर्थ यह है कि एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक प्राणियों के प्राण अपहरण करना। दूसरा मृषावाद बोलना है, तीसरा अदत्तादान-बिना इजाजत के किसीकी वस्तु को उठा लेना, चौथा मैथुन, पाचवाँ परिग्रह, छट्ठा क्रोध, सातवाँ मान-अभिमान, आठवाँ माया-दम्भ, कपट, नौवाँ लोभ, दशवाँ राग-प्रिय वस्तु पर स्नेह रखना, ग्यारहवाँ द्वेष-अप्रिय वस्तु पर अप्रसन्नता प्रगट करना, बारहवाँ कलह-परस्पर लड़ना झगड़ना, तेरहवाँ अभ्याख्यान-किसी पर दोषारोपण करना। चौदहवाँ पैशुन्य-किसीकी चुगली खाना। पन्द्रहवाँ परापवाद-दूसरों की निन्दा करना। सोलहवाँ रति-

अरति–अनुचित कार्यों में प्रसन्नता और उचित कार्यों में अप्रसन्नता प्रगट करना। सतरहवाँ मायामृषावाद–दम्भयुक्त झूठ बोलना और अठारहवाँ मिथ्यात्व–सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, सुदेव को कुदेव, कुदेव को सुदेव, सुगुरु को कुगुरु, कुगुरु को सुगुरु और सुधर्म को अधर्म, अधर्म को सुधर्म समझना। इन पापस्थानकों के सेवन करने से आत्मा मलिन और पापमय होती है। आत्मा और परमात्मा की विभिन्नता इन्हीं के कारण स्वरूप है। इन पापों से आत्मा माया नगरी के चारों ओर चक्कर काटती हुई जन्म जन्मान्तरों तक कष्ट पाती रहती है।

'विश्वस्य द्विविधा गति' संसार की गति दो प्रकार की है–संसार का कुछ अंश पुण्यपथ की ओर प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा को सदा के लिये परम पवित्र मुक्तिगामिनी बना रहा है। दूसरी ओर संसार का एक अंश पाप पथ की ओर प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा को हमेशा के लिये गन्दी तथा विषयगामिनी बना रहा है। एक ओर मनुष्य सुख, समृद्धि और ऐश्वर्य को पा कर सुख का आनन्द मनाते हैं और दूसरी ओर मनुष्य दुःख और आपत्तियों के शिकार होकर अपनी आत्मा को अधोगति के गर्त में गिराते रहते हैं। एक तरफ सुख, एक तरफ दुःख, एक तरफ धनी, एक तरफ निर्धनी, एक तरफ प्रेम, एक तरफ द्वेष–कलह, ये संसार के चलते

फिरते चक्र हैं। एक ओर समता और एक ओर विषमता का साम्राज्य है जो प्राणीमात्र को लालायित करता रहता है। विश्व की इस विस्तृत अटवी में अगणित प्राणी अपने अपने संस्कारों का फल प्राप्त करके विविध गतियों में विचरण करते हैं। अपने पुण्यवर्धक सुसंस्कारों के प्रभाव से कोई सरस, सौरभ समन्वित राज-प्रासादों के सुखसागर में गोता खाते हैं, तो कोई हतभाग्य अपने पापवर्धक कुसंस्कारों के प्रभाव से दुर्गन्धमय, भग्नावशेष खण्डहरों में रह कर अपने प्राणों को किसी अज्ञात लोक में पहुँचाते हैं। सांसारिक गतिविधि का स्वरूप जानने के लिये नीचे का पद्य हृदय ङ्गम कर लेना अच्छा है—

तर्ज दुनिया रंग बिरंगी बाबा—

दुनिया है दो रंगी बाबा, दुनिया है दो रंगी ॥ टेर ॥
पुण्य पाप दो पहियों से यह, जीवन रथ नित चलता।
ऊंची नीची समतल भू में, कभी न किससे टलता ॥
चला चला कर चतुर हुआ है, वाहक इसका जंगी।
बाबा दुनिया है दो रंगी, दुनिया है दो रंगी ॥ १ ॥

ऐश और आराम भवन में, एक चैन से सोता।
फटे खण्डहरों में दूजा, बिलख बिलख दिन खोता ॥
दुनिया की यह बहुत पुरानी, चाल हुई बेढंगी।
बाबा दुनिया है दो रंगी, दुनिया है दो रंगी ॥ २ ॥

पत्थर ही को देखो इक तो, देवमूर्त्ति वन पूज्य यना।
अगणित ठोकर खाकर दूजा, दलित पतित का रूप यना
उच्चवर्ण मे मान्य हुआ इक, अधम हुआ इक भगी।
याया दुनिया है दो रगी, दुनिया है दो रगी ॥ ३ ॥

मानव चेत जगत में अय तू, शुभमय पुण्य कमा ले।
सुकृत सुफल से सुरपुर में तू, सुखमय स्थान बना ले॥
सूरियतीन्द्र जगत में अपना, कोई न साथी सगी।
याया दुनिया है दो रगी, दुनिया है दो रगी ॥ ४ ॥

सासारिक गतिविधि उस विलक्षण पदार्थ के समान है जिसका आदि और अन्त का पता साधारण मतिवाले मनुष्य नहीं लगा सकते। ये मानव अपनी असस्कृत अल्पज्ञता के कारण उस द्विविध गति के फन्द म फँस कर अव्यवस्थित एव अनियमित गति से परिभ्रमण करते रहते हैं। वे अपने जीवन म अस्थिर सस्कारों की नींव इतनी सुदृढ़ बना लेते हैं कि जन्म जन्मान्तरों तक विभिन्न योनियों में प्रवेश कर ऐहिक भव के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। न वे उसकी अन्तिम सीमा तक पहुच पाते हैं और न वे अपनी अल्प क्षमता के परिणाम स्वरूप ऐसा करने म प्रयत्नशील होते हैं। वस्तुतः उनका जीवन ससार म अन्धकार मय व्यतीत होता है। वे सत्, असत्, उचितानुचित को न समझ कर ससार के कार्यक्षेत्र में उतर कर भी सफल मनोरथ नहीं होते।

जिसके हाथ में ज्ञानदीपक नहीं है और जिसके अन्तर्चक्षु खुले नहीं है, उसके सामने यदि सूर्य भी अपनी किरणों से हजार वार प्रकाश करे, फिर भी वह व्यर्थ है। दिवाकर की आलोकमयी कोटि किरणें भी अल्पज्ञ, अज्ञानी मनुष्य को प्रथम दर्शन करने में वञ्चितमा अनुभव करती हैं। यह उस अज्ञानी एवं अल्पज्ञ मानवाधम के लिये कितनी हीनता की बात है ? । किसी कविने कहा है कि—

जो मनुज ज्ञानाभरण से हैं, हीन इस ससार में।
वे हीन होते हैं सदा सत्, असत् के सुविचार में॥
कर्त्तव्य और अकृत्य का वे, ध्यान रखते है नहीं।
दुष्प्राप्य मानव जन्म का, वे उपयोग करते हैं नहीं॥१॥

अनुचित उचित की पूर्णतम, सुविवेचना करते नहीं।
ससार की गति भी कभी, पहचान सकते हैं नहीं॥
अन्याय असदाचार वश, रह पुण्य से वचित सदा।
नश्वर जगत को अज्ञजन, हा! मानते स्थायी सदा॥२॥

अज्ञानी पापी प्राणी अपने जीवन को पशुओं से भी अधिक मात्रा में सारमय व्यतीत करता है। काकतालीय न्याय की तरह किसी दिन वह भूले भटके पथच्युत पथिक के समान पुण्यपथ की ओर प्रवृत्त हो जाता है, पर दूसरे ही क्षण वह भाग्यहीन अपनी वासनाओं के कारण परम

पवित्र पुण्यपथ से भ्रष्ट होकर पापमार्ग की ओर बढ़ जाता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि—

अज्ञो ज्ञानप्रकाशेन, हीनोऽन्धो जगतीतले।
सन्मार्गं वै परित्यज्य, अशुभे पथि गच्छति ॥ १ ॥

—ज्ञानरूपी प्रकाश से रहित अज्ञानी-पापबुद्धि मनुष्य अन्धे के समान इस संसार में पुण्य दायक सन्मार्ग को छोड़ कर पापवर्धक अनुचित मार्ग में चला जाता है।

अज्ञानी प्राणी अपनी अज्ञता या पापप्रकृति के कारण पुण्यप्रदायिनी सत् क्रियाओं से वंचित रह कर पापपथ की ओर प्रवृत्त होता हुआ पातकी कहलाता है। यह सूक्ति ठीक चरितार्थ होती है कि–'अज्ञानं पापकारणम्' पाप का कारण अज्ञान यानि पापगामना है। इसीलिये प्रत्येक प्राणी को पापकर्म से बचने के लिये ज्ञानवान् हो कर पापरति से पराङ्मुख रहने की आवश्यकता है। ज्ञानालोक में आलोकित होकर मानव अपनी सत्क्रियाओं के द्वारा निष्कर्म बन कर मोक्षपद प्राप्त करता है। मोक्षगामी बनने के लिये आत्मा को सर्व प्रथम ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ज्ञान के बिना कोई प्राणी श्रद्धा, त्याग, तप, जप आदि सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। फिर कोई भी अज्ञानी मानव कदाचित् पथभ्रान्त की तरह इस क्षेत्र में उतर पड़ता है, तो वह मोक्षपद से वंचित ही रहता है। क्योंकि 'ऋते

ज्ञानान्न मुक्तिः' यह श्रुति ज्ञान के बिना मुक्ति मिलने का निषेध करती है। ज्ञान मानवता की सच्ची कसौटी है। इस कसौटी के द्वारा मनुष्य के मनुष्यत्व की यथार्थ परीक्षा होती है। जिस प्रकार सुवर्ण की परीक्षा घिसने, काटन आदि से होती है, उसी प्रकार मानव की परीक्षा ज्ञान रूपी कसौटी से होती है। नीतिकार कहते हैं कि—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते,
ज्ञानेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥ १ ॥

—जिस प्रकार घिसने, काटने, तपाने और पीटने से सुवर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार ज्ञान, शील, कुल और कार्य से मनुष्य की परीक्षा की जाती है। सारांश यह है कि—आत्मा को पाप रहित करने के लिये अथवा पाप बन्धन से मुक्त कराने के लिये ज्ञान सर्वश्रेष्ठ, उपादेय एवं मुक्तिप्रद है। ज्ञान का अध्ययन, अवगाहन, मनन एवं परिशीलन करने से आत्मा निस्सन्देह पापोन्मुक्त होकर परम पावनी पुण्य-प्रभा से प्रभावित हो उठती है।

अनन्त पापकर्मों से लिप्त होने के कारण आत्मा भव सागर के गहरे गड्ढे में गोते खाती रहती है। जिस प्रकार तुम्बिका पर मिट्टी का लेप लगा रहता है त्यों त्यों वह

जल में अधिक डूबती जाती है, पर जब वह लेप शनैः शनैः अलग होता है, तब वह जल के ऊपर आती जाती है। उसी प्रकार जब आत्मा पर पापकर्म का बन्ध रहता है वह भवसागर में डूबती जाती है और आत्मा पापों के बन्धन से उन्मुक्त हो जाय तो वह भवसागर को पार कर शीघ्र मोक्षपद प्राप्त कर लेती है।

जो आत्मा प्राणातिपातादि पापों के सुदृढ़ बन्धन में जकड़ी रहती है वह जब तक अपने पापबन्धनों को न तोड़ दे, या दान, शील आदि से उनका सर्वथा नाश न कर दे, तब तक वह मोक्षपद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। पापकर्मों का सर्वनाश करने का अमोघ शस्त्र सम्यक्-ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। इन्हीं तीनों सजीवन पदार्थों के सहारे आत्मा परम पावन बनता है। कहा भी है कि—

मूसी पावक सोहगी, फूकन तणो उपाय।
इन चारों के मिलत ज्यों, मैल कनक को जाय ॥१॥

त्यों श्रद्धा सद्-ज्ञान औ, त्याग तपस्या भाई।
इन चारों के मिलत ही, मैल आत्मा को जाई ॥२॥

—मूसी, अग्नि, सोहगी और फूँकनेवाला इन चारों के मिलने पर सोने का मैल दूर होता है और वह चमकने

लगता है। इसी प्रकार ज्ञान, श्रद्धा, त्याग और तप इन चारों के समाराधन से आत्मा के पापकर्म रूपी मैल हट जाते हैं और वह निष्कलङ्क, निष्पाप और परमपवित्र होकर चन्द्रप्रभा के समान सर्वत्र चमक उठता है। पाप बन्धनों से उन्मुक्त आत्मा को परमात्म पद प्राप्त करने में किञ्चिन्मात्र भी विलम्ब नहीं होता। सौभाग्यवश मानवजीवन मिल जाने पर भी जो सत्कृत्य की ओर अपना लक्ष्य नहीं रखता तो उससे बढ़ कर फिर संसार में अभागा कौन कहा जा सकता है? । संसार में प्राणीमात्र का परम कर्त्तव्य है कि पाप और तज्जन्य आमोद-प्रमोद में न फँस कर पुण्यसंचय करने का यथाशक्य प्रयत्न करें। पुण्यहीन मनुष्य पापवृत्तियों के कारण शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि अधम योनियों में भटकता हुआ अपने आपका अधःपतन करता है, यह उसके लिये कितनी लज्जा जनक बात है। संसार में परलोक जाते समय प्राणी का कोइ साथी नहीं है। जो कुछ पुण्य संचय कर लिया जायगा वही एक साथ रहेगा, अन्य कुछ नहीं। सहचर, मित्र, बान्धव, आदि सब स्वार्थ लग, या जीवितावस्था पर्यन्त ही कुछ साथ देते हैं, पर विपदावस्था, या मरणावस्था में सब अलग हो जाते हैं, कोई किसीका साथी नहीं होता। नीति का सूत्र है कि—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
भार्या गृहद्वारि सखा श्मशाने।

पार्जन करे। पुण्य का शुभफल परलोक में तो मिलता ही है, इस लोक में भी पुण्यशाली प्राणी की प्रभा सारे विश्व को प्रभावान्वित किये बिना नहीं रहती। किसी नगर में कोई पुण्यशाली परोपकारी मनुष्य मर जाता है तो उसके शुभ कर्मों को लोग याद करते हुए उसकी स्मृति में विह्वल हो उठते हैं। कोई कहता है-कैसा नगर का दीपक था जो आज बुझ गया ?। जो मनुष्य पापाचारी होता है उसके मरने पर सभी लोग कहने लगते हैं कि-अच्छा हुआ जो नगर का कटक दूर हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की भलाई या बुराई का प्रतिबिम्ब इस लोक में शुभ या अशुभ रूप से स्मृति में अमिटसा रह जाता है। जैसे रावण के पापमय कुकृत्य की बुराई का प्रतिबिम्ब उसकी अशुभ-स्मृति में आज तक बदनामी के रूप में है और रामचन्द्रजी के नीतिमय सुकृत्य की भलाई का प्रतिबिम्ब उनकी शुभस्मृति में आज तक प्रशंसा के रूप में अमिट एवं अनुकरणशील बन गया है।

कुछ लोग यह सोचने लगते हैं कि अभी तो बहुत समय है, संसार में आये हैं तो कुछ सांसारिक विषयों का उपभोग तो कर लें, प्रौढ़ या वृद्ध होने पर धर्मोपार्जन कर लेंगे। धिक्कार ऐसे कुविचारों को जो पापवृत्तियों एवं अज्ञानवश में फँस जाने के कारण वे लोग संसार की असारता और देह की क्षणभंगुरता पर वास्तविक विचार नहीं

कर पाते। गमीरता से विचार करने पर पता लगता है कि मानव-देह बड़ी मुश्किल से मिलती है। जब प्राणी अनेक अनर्थों से घिरी हुई भवाटवी में भटकते और शोक सन्ताप करते कहीं कुछ कुछ अकामनिर्जरा से पुन्य संचय कर लेता है, तब मानव जन्म मिलता है। चिन्तामणिरत्न से भी अधिक अमूल्य और दुष्प्राप्य मानव जन्म को परिणाम में असुन्दर तुच्छ विषयों में लुब्ध हो खो बैठना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। क्या पता कि प्रौढ एवं वृद्ध अवस्था की मंजल तक पहुँचा जाय या नहीं ?। अतः तरुणाई को धर्मकर्म के बिना विषम विषयों के लिये बरबाद कर देना इससे अधिक मूर्खता, मतिमन्दता और अकर्मण्यता कौन हो सकती है ?। मनुष्य जीवन की चिरकालीनता विद्यमान रखना अपने को विस्मृति और भयावह के गर्त्त में गिराना है। सरोवर के अन्दर पानी के बुलबुले देखने में कितने सुन्दर और सुहावने लगते हैं, परन्तु उनका नाश होने में कुछ विलम्ब नहीं लगता। बस, यही हाल मानवदेह का है। कहा भी है कि—

पाणेसु चिय पहिएसु चले सरीरे,
तारुण्णय पि तरले मरणे धुवम्मि।
धम्म समग्गसुहसघडणा निमित्त,
मुत्तूण नत्थि सरण भुवणे जणाण ॥ १ ॥

—नित्य गमन करनेवाले पथिक के समान प्राण हैं, शरीर चचल है, युवावस्था अस्थिर है—दखते देखते बुढ़ापा और मरण आ जाता है तथा मरण अवश्यम्भावी है। इसलिये समग्र सुखप्रद घटनाओं को दनेवाले एक धर्म के सिवाय अन्य कोइ शरण नहीं है। शरीर के विनाश होते कुछ भी दर नहीं होती और न इसको कायम रखने की कोइ क्षमता रखता है। इसलिये जब तक इन्द्रियाँ हीन नहीं हुई और बुढ़ापे की फाँसी नहीं लगी, तभी तक पुन्योपार्जन कर लिया जायगा, तो लाभकर है, फिर कुछ न हो सकेगा।

एषा बुद्धिमता बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह, मर्त्येनाप्नोति चामृतम् ॥ १ ॥

—बुद्धिमानों की बुद्धि और मनीषियों की मनीषा यही है कि इस क्षणभगुर अस्थिर शरीर से धर्म सम्बन्धी सत्य परमतत्व को भलीभाँति प्राप्त कर लिया जाय।

सासारिक और शारीरिक प्रबन्धों में जितना समय और दिल लगाया जाता है, उसका आधा या चौथाइ हिस्सा भी धार्मिक परम तत्वों क समाराधन में लगाया जाय, तो अथाह भवसमुद्र का अन्त होकर आत्मा शीघ्रातिशीघ्र परम पद विलासी बन सकती है। विषयभोग क लिये और उनकी सामग्री जुटाने के लिये अपना अमूल्य समय खो बैठना, कोइ बुद्धिमत्ता, या मनीषा नहीं है। शरीर और

तत्सम्बन्धी प्रबन्धों में मनुष्य को उतना ही आसक्त होना चाहिये जितना कि अत्यन्त ही आवश्यक हो।

कोई व्यापारी व्यापार के निमित्त किसी नगर में जाकर सराय में ठहरा। उसका कर्त्तव्य था कि जिसके लिये वह गया, उसी पर ध्यान रख कर उसको सफल बनाने में प्रयत्नशील रहे। यदि वह व्यापार कार्य को छोड़ कर अन्य कार्यों के लिये अपने समय का अपव्यय करता रहे तो कभी सफल मनोरथ नहीं होगा। ठीक इसी प्रकार मानवजीवन प्राप्त करके जो व्यक्ति सांसारिक कार्य कलापों में ही लगा रहे और आवश्यक धर्मकार्य करने पर लक्ष्य न दे, तो अन्त में वह उस व्यापारी के समान अपने मानवजीवन को सफल नहीं कर सकेगा। बाद में वह चाहे लाख प्रयत्न भी करे, परन्तु दुर्गतिजन्य दुःख सन्तापों से कभी नहीं बच सकेगा। संसार में बड़े बड़े राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, सम्राट् आदि आये और चले गये। यहाँ के राज्य, वैभव एवं ऐश्वर्य को किसने अपनाना नहीं चाहा और उसके लिये क्या क्या अन्यायोत्पादक अनर्थ जनक कुकृत्य नहीं किये ?, परन्तु अन्त में वे सबको यहीं छोड़ कर और पाप का भाता साथ में लेकर काल के ग्रास बन गये। वे दुर्गति के फन्दे को तोड़ने के लिये अपनी कुछ भी सामर्थ्य नहीं दिखला सके। अगर कर्मयोग से उनने अपने ही राज्य में जन्म लिया तो उनका अपने पिछले जन्म के राज्य

पर कुछ भी अधिकार नहीं रहता। उनको खुद के बनवाये हुए महलों में भी कोई प्रवेश तक नहीं करने देता। यही असार संसार की विषम और तिरस्कार जनक गति विधि है।

जो बुद्धिमान प्रथम से ही संसार की असारता और उसकी गति विधि को भलीभाँति समझ कर पुण्यकर्म करने में प्रयत्नशील रहता है, वह निस्सन्देह मोक्षपद का अधिकारी बन जाता है। संसार की गति विधि जाननेवाले काम, मद, मोह आदि से अलग रह कर मनुष्य संसार यात्रा का निर्वाह करने के लिये अपने बल पराक्रम को परोपकारादि कार्यों में उपयुक्त करते हैं और आत्मकल्याण कर पुण्य कार्यों में सदा प्रयत्नशील रहते हैं। वस्तुतः ऐसे महापुरुष जो विश्वकल्याण के लिये अपनी आत्मा को निष्पाप, तपःपूत और पुण्यशाली बना कर विश्व के अभिमुख असाधारण आदर्श उपस्थित करते हैं, उन महापुरुषों के द्वारा स्थापित किये गये असाधारण, अनुपम एवं अलौकिक आनन्दप्रद आदर्शों का प्राणीमात्र को अहर्निश अनुकरण करके पापकर्मों से अलग रहना चाहिये। इस मार्ग पर आये बिना किसीकी शोभा नहीं होती। कहा है कि—

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं,
न्यायेन राज्यं लवणेन भोजनम्।
धर्मेण हीनं बहु जीवितव्यं,
न राजते चन्द्रमसा निशीथम् ॥ १ ॥

—अन्न के बिना शरीर, नेत्रों के बिना मुख, न्याय के बिना राज्य, नमक के बिना भोजन और चन्द्रमा के बिना रात्रि जिस प्रकार शोभित नहीं होते, उसी प्रकार धर्म-पुण्यकर्म के बिना मनुष्य का जीवन शोभित नहीं होता। इसलिये द्यूतरमण, मांसादन, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार, तस्करवृत्ति, परदारागमन, हिंसा, इन्द्रियलोलुपता, क्रोधादि कषाय, अन्यायाचरण आदि पापकर्मों को छोड़ कर धार्मिक कार्य करने में कटिबद्ध रहना चाहिये, तभी मनुष्य का जीवन सफल और सद्गति दायक होगा।

---

५ सत्य ब्रूहि—सदा सत्य बोलना सीखो।

पापनिवृत्ति और पुण्यप्राप्ति का एक मुख्य कारण सत्य है। सत्य ऐसी वस्तु है जिसमें परमात्मा का आभास होता है। बिना इसके कोई अन्य वस्तु नहीं है जो अस्तित्व के लिये नियत हो सके। सत्य शब्द का मूल शब्द सत् है, इसका अर्थ है-होना। सत् शब्द से भाव अर्थ में य प्रत्यय लगने पर सत्य शब्द बना है। इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'होने का भाव।' इस व्याख्या से सर्वसाधारण को पता लग सकता है कि सत्य शब्द की और सत्यशील पुरुष की न केवल इसी लोक में, किन्तु परलोक में भी कितनी महत्ता

होना चाहिये। सत्य शब्द परमात्मा वाचक है एव उसका आचरण करनेवाला व्यक्ति भी उसीके समकक्ष है। ऐसी अवस्था में सत्य का अर्थ असाधारण, अनुपम एव अलौकिकता का द्योतक होना असगत नहीं है।

लौकिक और पारलौकिक आदि सभी प्रकार के कार्यों में सत्य की बड़ी भारी महत्ता है। कोई भी विशाल कार्य क्यों न हो, यदि वह अपरिमित परिश्रम एव अतुल विद्वत्ता से निर्माण करने पर सत्य से हीन है, तो वह विशाल होने पर भी सर्वमान्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह सत्य से हीन है। इसी तरह छोटे से छोटा कार्य भी है पर वह सत्यता से परिपूर्ण है, तो उस विशाल कार्य की अपेक्षा वह अधिक मान्य एव प्रशसनीय होता है, क्योंकि उसमें सत्यता है। यह तो हुई लौकिक कार्यों में सत्य की महत्ता। इसी प्रकार पारलौकिक धर्मकार्यों में भी सर्वप्रथम सत्य की विशेषता है। धर्म का मूल आधार सत्य है और समस्त धार्मिक क्रियाएँ सत्यमय भावशुद्धि पर अवलम्बित हैं। इसीसे एक विद्वान् का कहना है कि "हमें अपने लक्ष्य स्थान, या मजिल मकसूद तक पहुचने के लिये सत्य ही की राह पर चलना चाहिय। यह राह सीधी और नजदीकी है। अर्थात् सत्य की राह पर चलने से, हम अपने लक्ष्य पर बहुत जल्दी पहुँचते हैं।" इसलिये सत्य का परिणाम सदा सुखदाई है। आज की विषम परिस्थिति में विश्व के अस्तित्व-हीन अस-

र्यादित विषम-प्रवाह में बहनेवाले क्षुद्र जन्तु किसी कार्य में सत्यता होने पर भी अनुचित आक्षेप कर अपनी क्षुद्रमयी उच्छृंखलता एवं उद्दण्डता का परिचय देने में नहीं हिचकते, तो फिर उनका असत्य, अनुचित कार्य कैसे सर्वमान्य हो सके ? ।

सर्वसाधारण लोग सत्य का अर्थ सच बोलना समझते हैं। इसलिये सत्य का प्रयोग विशाल अर्थ में किया गया है। विचार में, वाणी में, आचार में, अन्यान्य प्रत्येक कार्य में सर्वत्र सत्य ही सत्य होना चाहिये। अगर मनुष्य सत्य शब्द का वास्तविक अर्थ समझ ले और अपने हरकार्य में इसको अपना ले, तो संसार में उसके लिये जान लेना कुछ भी अवशेष नहीं रहता, क्योंकि संसार भर का समस्त ज्ञान इसीमें समाया हुआ है। जो ज्ञान सत्य के अन्तर्भूत न हो सके वह ज्ञान नहीं, वह तो एक कपोल-कल्पित मिथ्या वितण्डावाद कहलायगा। असत्य गर्भित ज्ञान नहीं और मिथ्या ज्ञान से सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। यदि उल्लिखित पंक्तियों को कसौटी का रूप देकर हम उस पर प्रत्येक कार्य का प्रयोग करना सीख लें तो शीघ्र ही हमें पता लग जायगा कि कौनसी प्रवृत्ति एवं कौनसा कार्य करने योग्य है और कौनसा त्याज्य ?। सत्य पारसमणी और कामधेनु के समान है। दोनों का प्राप्त होना जिस प्रकार सर्वसाधारण के लिये कठिनतम है, उसी प्रकार सत्य की

प्राप्ति होना भी महा कठिन है। अभ्यास और वैराग्य के बिना सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सदा सर्वदा प्रत्येक कार्य में सत्य की लगन रखना यही अभ्यास है और असत्य को छोड़ कर समस्त वस्तुओं से अत्यन्त उदासीनता धारण कर लेना यही वैराग्य है। इन्हीं दो उपायों से सर्व विशुद्ध सत्य उपलब्ध होता है। सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयास करनेवाले व्यक्तियों को प्रथम कई आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो मनुष्य कायरता के वश आपत्तियों से घबरा जाता है वह सत्य की वास्तविक प्राप्ति नहीं कर सकता। सत्य की शोध के लिये महती तपश्चर्या करना और तकलीफें सहना पड़ती हैं और समय आने पर प्राणार्पण भी करना होते हैं, तब कहीं सत्य मिलता है।

सत्य ही में सब प्रकार का सुख और गौरव है। इसको हृदयङ्गम कर लेने से मनुष्य उभय लोक में अनुपम सुख का अनुभव करता है। कोई मनुष्य यदि सत्यधर्म की आराधना न करता हुआ सुख एवं वैभव की आकांक्षा करता है, तो उसे वह वस्तु कभी नहीं मिल सकती। सूक्ष्मदृष्टि से विचारा जाय, तो धर्म और अधर्म क्रमशः सत्य और असत्य पर ही निर्भर हैं। जहाँ धर्म है वहाँ सत्य है और जहाँ असत्य है वहाँ अधर्म है। शास्त्रोक्ति भी है कि-' धर्म. स नो यत्र न सत्यमस्ति ' जिस धर्म में सत्यता न हो वह धर्म नहीं, अधर्म है। धर्म चाहे बाह्याडम्बरों से परिप्लुत क्यों न हो, सत्यता के बिना वह

कपोल कल्पित ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त जो फल तपस्या और त्याग के अनवरत परिश्रम से प्राप्त किया जाता है उसकी सफलता सत्य से ही होती है। कहा भी है कि–

अश्वमेधसहस्राणि, सत्य च तुलया कृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि, सत्यमेवातिरिच्यते ॥

—हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य इन दोनों को तराजू में रख कर तोले जाय तो सहस्रों अश्वमेध से सत्य का ही पलड़ा ऊँचा रहेगा। कुछ पाखण्डी लोग इस सूक्ति को लक्ष्य में न रख कर सत्य को कुचल देने का शक्तिभर प्रयत्न करते हैं। उनको समझ लेना चाहिये कि सूर्य पर धूल फेंकने से वह क्या सूर्य तक पहुँच सकती है?। अन्त में तो सदा सर्वदा सत्य की ही जय होती है। विज्ञोक्ति भी है कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्' सदा सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं। अतः सत्य के बराबर धर्म और असत्य के समान संसार मे कोइ पाप नहीं है। कहा है कि—

साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साच है, ताके हृदय आप ॥ १ ॥
साचे शाप न लागई, साचे काल न खाय।
साचे को साचा मिले, साचा माहिं समाय ॥ २ ॥

खराब मन्त्री से राजा, ससारियों के सहवास से साधु, अति लाड़ करने से लड़का, मदिरापान से लज्जा, अनीति

से सपत्ति, खलपुरुषों की सोबत से शील और कपट रखने से मित्रता का जिस प्रकार सर्वनाश हो जाता है। उसी प्रकार असत्य भाषण से तप आदि आत्मगुणों का सर्वनाश होते देर नहीं लगती। इसीसे सत्य को सब से बड़ा और असत्य को सबसे अधिक क्षुद्र कहा गया है।

संसार में प्रत्येक वस्तु के भेदोपभेद हैं-प्रिय-सत्य और अप्रिय-सत्य। हित, मित और मधुर वचन बोलना प्रिय-सत्य है और जनता का हितनाशक वचन बोलना वह सत्य होने पर भी अप्रिय-सत्य है। जिन वचनों के द्वारा दूसरों को दु.ख, उद्वेग पैदा होता हो, अथवा दूसरों के चित्त पर आघात पहुँचता हो, या किसी का अहित होता हो, ऐसे वचन प्रायः अहङ्कार, या हठाग्रह से बोले जाते हैं, वे सत्य नहीं, किन्तु असत्य हैं। जो सत्य विश्वकल्याण या आत्मकल्याण का विरोधी हो वह वस्तुतः सत्यता का यथार्थवाची शब्द नहीं, किन्तु सत्यवादीपन के अहङ्कार का प्रतीक है। हितैषिता की बात यदि किसी समय सत्य न भी हो, फिर भी उससे किसीकी हानि नहीं हो पाती। परन्तु अहित की बात यदि सत्य भी हो, तो उससे हानि के सिवाय कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अन्धे को अन्धा और लूले को लूला कहना यद्यपि सत्य है। फिर भी ऐसा कहने से उनकी आत्मा को महा उद्वेग और दु.ख उत्पन्न होता है, अत: ये वचन सत्य नहीं हैं। नीतिकारोंने

लिखा है कि–'सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' मनुष्य प्रत्येक व्यवहार में सच बोले, परतु सत्य ऐसा हो जो सब का प्रिय एव हितकर हो। अप्रिय सत्य बोलना उद्वेगोत्पादक होने से झूठ बोलने के समान हैं। मनुष्यमात्र को कैसा और किस प्रकार बोलना चाहिये ? यह विषय बड़ा गम्भीर एव विवेचनशील है। मनुष्य के मनुष्यत्व एव पशुत्व की पहिचान बोलने मात्र से हो जाती है। जो मनुष्य अपने प्रखर पाण्डित्य की पताका लेकर विश्व के कोने कोने में फहरा रहा हो और अपने अजोड़ ज्ञान द्वारा विश्व को चमत्कृत करने का साहस रखता हो, पर वह बोलना नहीं जानता, तो उसकी पताका एव विद्वत्ता विश्व के अभिमुख नहीं के समान है। अतुलित ज्ञान के अथाह सागर म गोते लगानेवाले व्यक्ति के मुख से यदि कठोर वचन निकल गये तो उसका वह ज्ञान धूल से भी अधिक अवनत है। मधुर, सत्य वाणी का प्रयोग करने से अपठित व्यक्ति भी सब के श्रद्धाभाजन होते हैं। अहिंसा, अक्रोध, अस्तेय, एव अप रिग्रह आदि नियमों का यथाविधि परिपालन करने से जितना पुण्य सचय नहीं होता, उतना केवल एक प्रियवचन से पुण्य सचय होता है। सुन्दरतम दुकूल वस्त्र, सुगन्धी विलेपन एव रत्नजटित बहुमूल्य आभूषणों से मनुष्य की उतनी शोभा नहीं होती जितनी कि मधुर, सत्य वाणी से होती है। नीतिकार कहते हैं कि—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुष हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नान न विलेपन न कुसुम नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुष या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषण भूषणम् ॥

—हाथ में कङ्कण-बाजुबंध, चन्द्र क समान उज्वल हार, स्नान, चन्दनादि विलेपन, पुष्प एव सजारे हुए केशों से मनुष्य की शोभा नहीं होती। उसकी वास्तविक शोभा तो केवल मधुर, सुसंस्कृत वाणी से होती है जो पूर्वजन्म के सचित प्रबल पुण्य स मिलती है। आभूषण आदि तो एक दिन अवश्य नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मधुरवाणी रूपी आभूषण सदा विद्यमान रहता है। अत सिद्ध है कि जिस मनुष्यने वाणी रूपी आभूषण से अपने को अलंकृत नहीं किया, उसने अन्य अलकारों को योंही लज्जित किया। मधुर वाणी के बिना मनुष्य का पाण्डित्य भी निकम्मा है और वह उसको कलंकित करनेवाला है। कहा है कि—

सीख्यो व्याकरण न्याय साहित्य अरु वेद छन्द,
ज्योतिष को सीख नित रहते गरूर में।
सीख्यो सब सौदागिरी बजाजी सराफी जान,
लाखन को फेर-फार बस्यो जात पूर में ॥
सीख्यो सब मन्त्र तन्त्र सब याद सीख्यो,
पिंगल पुराण सीख भयो अति शूर में।

सीख्यो सब बाट घाट निपट सयानो भयो,
एक बोलबो न सीख्यो तो सीख्यो सब धुर में ॥१॥

इसलिये मनुष्य को अन्यान्य शिक्षाओं के साथ साथ बोलने की भी कला सीख कर ऐसा वचन कभी नहीं बोलना चाहिये जिससे दूसरों की आत्मा पर अकारण आघात पहुँचे। दूसरों की आत्मा पर आघात पहुँचाने से पुण्यधर्म का नाश और पाप का बढ़ावा होता है। किसीको भी आत्मा को व्यथित न करना, इसीमें मानवजीवन की सफलता है। जो दुर्लभता से प्राप्त अपने अमूल्य जीवन को पाकर काम क्रोधादि से कोसों दूर रहता है और सत्य, क्षमा आदि सन्नियमों का परिपालन करता हुआ कटु, असत्य वचनों द्वारा किसीके हृदय पर आघात नहीं पहुँचाता, उसीका नरजीवन सफल और हितकर है। क्यों कि—

उपकार सदैव किया करते,
निज स्वार्थ कहीं दिखलाते नहीं।
दुख देख दुखी जग के पथ,
कटक हीन सुझाते फँसाते नहीं॥
धन धाम से काम नहीं जिनको,
कुछ नाते यहाँ के लुभाते नहीं।
फल पाते वही नरजीवन का,
जो किसीको कभी कलपाते नहीं॥

मधुरवाणी पुण्यजनक धर्मोपार्जन में भारी सहायता प्रदान करती है। घमण्डी, या अज्ञ मनुष्य अपनी निर्विवेकता के कारण इसका सदुपयोग न करके पुण्यशील बनने से वंचित रह जाते हैं। वे एक के बाद एक, इस तरह भवाटवी के अनन्त चक्कर लगाते रहते हैं। घूमते घूमते थक जाते हैं परन्तु उन्हें कहीं किसी प्रकार की सान्त्वना नहीं मिलती। पथभ्रष्ट पथिक के समान उन पुण्य-हीन मनुष्यों की दुर्गति होती है जो हित, मित एवं मधुर सत्य वचन का अनादर करके असत्य और कटु वचनों द्वारा अपने मुख को दुर्गन्धित करते हैं। इसलिये—

बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च,
देहस्य सारं व्रतधारणं च।
अर्थस्य सारं किल पात्रदानं,
वाचः फलं प्रीतिकरं नराणाम् ॥ १ ॥

—मनुष्यों को प्राप्त बुद्धि की सार्थकता तत्त्वों की विचारणा से होती है, मानवदेह की सफलता ब्रह्मचर्यादि व्रतों के धारण करने से होती है, प्राप्तधन-समृद्धि की सार्थकता सत्पात्र में दान देने से और वाणी की सार्थकता दूसरे प्राणियों का हित करने से होती है। इनके बिना उनकी बुद्धि, उनका शरीरधारण, उनकी मिली लक्ष्मी और उनकी वाणी आकाश कुसुमवत् निष्फल है।

सत्य की रक्षा के लिये जो मानव प्रयत्नशील नहीं हैं उनका जीवन ससार में भार के समान है। असएव एव अपरिमित राज्यवैभव होने पर भी जिन लोगोंने प्रियसत्य की रक्षा क लिये राजसी वैभव तो दूर रहा, अपने वश और अपने आपको दूसरों के हाथ बेच डाला, बाल्यावस्था में असुरों क द्वारा असह्य दु ख सह, रात्रि के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय होते ही चौदह वर्ष तक वनवास का आश्रय लिया और जिन्होंने उत्तम भोजन की जगह कन्द मूल फलाहार आदि से या निराहारिता से अपने प्राणों की रक्षा की, उन ज्ञातकुलदीपक भगवान् महावीर, बुद्ध, सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, और इक्ष्वाकु कुलमणि रामचन्द्र आदि महापुरुषों की गौरवगाथा को कौन नहीं जानता ? जो आज इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णा क्षरों में अङ्कित है और आज भी सत्यपथ च्युत भ्रष्टपथिकों को सत्य एव सर्व विशुद्ध मार्ग का प्रदर्शन करा रही है। अतएव ससार और शास्त्रवर्णित अन्य श्रेष्ठ गुणों की अपेक्षा सत्यगुण सब से अधिक महत्ता रखता है-जिस की महिमा करना लेखिनी से परे है। शास्त्रकार कहते हैं—

तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्र सुराः किङ्कराः,
कान्तार नगर गिरिर्गृहमहिर्माल्य मृगारिर्मृग ।
पाताल बिलमस्त्रमुत्पलदल व्याल. शृगालो विष,
पीयूष विषम सम च वचन सत्याञ्चित वक्ति ॥१॥

—जो मनुष्य सर्वदा सत्य वचन बोलता है उसके लिये विश्व को जला देनेवाली जाज्वल्यमान अग्नि क्षणभर में जल के समान, अथाह समुद्र स्थल के समान, वध घातक शत्रु मित्र के समान, देवता नौकर के समान, बीहड़ वन नगर के समान, सिंह हरिण के समान पहाड़ घर के समान, सर्प पुष्पहार के समान, पाताल बिल के समान, तीक्ष्ण अस्त्र कमलपत्र के समान कोमल, मदोन्मत्त हाथी सियाल के समान और विष अमृत के समान हो जाता है। इसी तरह सत्यवादी के लिये प्रतिकूलताएँ भी अनुकूलता का अनुसरण करने लग जाती हैं। बस, इससे अधिक सत्यता का महत्त्व और क्या हो सकता है ?।

आज के युग में पथभ्रान्त मानव पद पद पर लोगों के द्वारा क्यों ठुकराया जाता है। इसका मूल कारण यही है कि वह सच बोलना नहीं जानता। अगर किसी में सच बोलने की शक्ति है तो वह अप्रिय एव कटु है, इससे वह विशेष तिरस्कृत होता है। शरीर–वस्त्र, विद्या और वैभव के साथ साथ मनुष्य के लिये मधुर सत्य बोलने की भी अनिवार्य आवश्यकता है। हितकर, मधुर और परिमित सत्य वचन का ज्ञान और सद्व्यवहार के बिना मानव गौरवहीन ही कहलाते हैं। क्योंकि

वपुर्वचन वस्त्राणि, विद्या विभव एव च।
वकारैः पञ्चभिर्हीनो, नरो नार्हति गौरवम् ॥ १ ॥

—वपु-शरीर, वस्त्र, वचन, विद्या और विभव इन पांच वकारों के विना मनुष्य कहीं भी आदर नहीं पाता। अतः गौरवता प्राप्त करने के साथ ही मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक दोनों मर्गों को सुधारने के लिये सदा सत्य बोलना चाहिये। अन्य साधनों की अपेक्षा सत्य ही मुक्ति-पथ का सरल एवं सुप्राप्य पाथेय है।



६ अनुयाहि साधुपदवीम्—शिष्ट पुरुषों के मार्ग पर चलना सीखो।

जिन पुण्य-पुरुषोंने विश्व की अस्थिर विनाशी भावनाओं से सम्बन्धित कामादि दुर्विषयों का परित्याग कर और जीवन की क्षणभगुरता को लक्ष्य में रख कर अनवरत रूप से अपने आपको परोपकारिता का सच्चा पूजारी बना लिया है, व सच्चे साधु कहलाने क अधिकारी हैं। इसके विपरीत अपने आपको साधुता का समन्वयक माननेवाले साधुता की आड़ में ढोंग और पाखण्ड को बढ़ाते हुए काले बाजार को प्रोत्साहित करते हुए भारतवर्ष की भोली भाली जनता को मधुरालाप के प्रलोभन पाश में फसा कर, चिरकाल तक दु खद तीक्ष्ण कटकों से परिपूर्ण घोरान्धकार मय कूप में गिरा कर अट्टहास करनेवाले पाखण्डी साधु कहलाने योग्य नहीं। स्वार्थान्धता के पीछे विश्व की दुरवस्थिति का

ज्ञान उनको नहीं होता। वे स्वार्थसिद्धि के लिये प्राणियों के जान माल को लूटते नहीं हिचकते। क्या ऐसे पाखण्ड-प्रिय साधु विश्वहितैषी कहला सकते हैं ?, आज के विषम नाना वरण में जिस ओर दृष्टिपात किया जाय, उस ओर ऐसे साध्वाऽभासों की संख्या अधिक देखने में आवगी जो सच्ची साधुता पर कलङ्क लगा रहे हों और भोले भाले लोगों को अपने चंगुल में फंसा कर उनके जान माल को खतरे में डाल रहे हों। स्वय साध्वाचार-भ्रष्ट, अपनी वाह वाह कराने की आशाओं में पतित और दुर्गतिपात का कुछ भी भय न रखनेवाले नाममात्र के साधुओं के द्वारा विश्व कल्याण होने की आशा रखना केवल निराशा मात्र है। इनके उपदेश और इनकी सेवन संसारी या त्यागियों के लिये जीवन को सब तरह मिटियामेट करनेवाली है।

इन साध्वाभासों के उपासकों की संख्या भी कम नहीं है। ये अन्धश्रद्धालु अपनी स्वार्थ एवं विषयपिपासा की प्रलोभन पूर्ति के लिये उन सर्वभ्रष्ट पाखण्डप्रिय साधुनाम धारियों के चारों ओर घेरा लगाये रहते हैं और वे ज्यों नचाना चाहते हैं त्यों ही ये नाचा करते हैं। यहाँ तक कि पाखण्डियों के भरमाने या कहने से धर्म-नाम को कलंकित, या भ्रष्ट करते भी नहीं हिचकते। जो प्रदेश कभी धर्मप्राण कहलाता था, जिसके घर घर में धार्मिकता एवं आस्तिकता का प्रबल प्रचार था, वह आज अन्धोपासकों के कारण

अधार्मिकता, नास्तिकता एव अनुल्लेखनीय अनर्थों का उत्पादक बनता जा रहा है, यह क्या कम खेद की बात है ?। वस्तुतः अधार्मिकता का निर्माण करनेवाले पाखण्डी साधु हैं जो अपनी बनाई हुई अमर्यादित, असैद्धान्तिक एव दुर्नीतिमयी कुटिलरीति से प्राणियों को तुच्छ प्रलोभन दकर अपने अनुयायी बनाते रहते हैं और फिर उनमें दुराचार एव अधार्मिकता का मचार कर दते हैं–जिससे वे उन्मत्तवत् बन जाते हैं। अधर्म से सदाचार और सिद्धान्त मर्यादा का ह्रास तथा अनाचार प्रवृत्ति का बढ़ावा होता है। दुराचार से मर्यादा का हनन और अमानुषिकता का सचार होता है। पाखण्डीओं में कुछ वर्ग पठित भी होता है, परन्तु समार में स्वार्थ एक ऐसी चीज है कि उसके पीछे उनका ज्ञान मोह माया और तृष्णा आदि से दूषित हो जाता है–जिससे वे असाधुता का प्रसार करने लग जाते हैं। यही स्वार्थ ऐक्यता का सर्वनाश कर घर घर में फूट का बीजारोपण करता है। इसीके पीछे आज ऊँचे ऊँचे पदों पर स्थित अधिकारी गण दीन और दुःखी जनों को निर्दयता से अपने पैरों तले कुच लते जा रहे हैं। किसी कविवरने ठीक ही लिखा है कि—

स्वार्थमय समार में है, हो रहा अपना पराया।
ज्ञानियों का ज्ञान भी है, मोहमाया में भुलाया॥
रूप धन अधिकार वैभव, व्योम में घनसा समाया।
देखते कहते समझते काम, में तो भी न आया॥१॥

लोभ लम्पटता सिखाली, ओर दुर्गुण नीति जाया।
धाँधली पथ रोक करती, रूढियों की क्षुद्र माया॥
दीन दुखियों को निठुर, अधिकारवालोंने दबाया।
स्वार्थवश इस विश्व में, अति पाप और अधर्म छाया॥

स्वार्थपरायण लोगों को चाहिये कि स्वार्थ का त्याग कर सिद्धान्तोक्त यथाशक्य साधुधर्म का परिपालन करते हुए विश्व में धार्मिकता का सचार करें, अधर्मपथ की ओर जाती हुई जनता को रोक कर धर्मपथ की ओर झुकावें, इसीमें विश्व का और अपना कल्याण हो सकता है। अन्यथा कौए आदि पक्षीगण भी ससार में आते और चले जाते हैं, उनका जीवन प्रशसनीय नहीं। प्रत्यक मानव को चाहे वह ससारी हो या साधु ऐसा जीवन बना लेना चाहिये जो विश्वजन के अभिमुख ज्वलन्त उदाहरण स्वरूप हो और जिसके समागम से जनता सुसस्कारी बन सके। महान् पुरुष सदाचारी, परोपकार रत और परमार्थ को स्वार्थ माननेवाले होते हैं, वे प्राणान्त में भी किसीका बुरा करना नहीं चाहते और अपने दिव्य उपदेश या प्रभाव से स्वपर का सुधारा करते हैं। इसीसे नीतिनिर्दोने यह वाक्य लिखा है कि 'अनुयाहि साधुपदवीम्।' जो लोग महापुरुषों के मार्ग पर चलना नहीं जानते और न उनका सग करते हैं, न उनके उपदेशों को सुनते हैं, वे दुर्गति की खड्डपट्टी में पड़ कर इधर उधर धक्का खाया ही करते हैं।

प्राप्त जीवन क्षणिक है, दुनिया के सारे वैभव चपला के समान नाशवान् हैं और इन्द्रिय-विषयों का आखिरी परिणाम असुन्दर है। इस परिवर्त्तनशीलता का भलीभाँति विचार कर अपने जीवन को सदाचारी बनाने के लिये महान् पुरुषों की सेवा में रहना, उन्हीं की संगति करना और उन्हींके सदुपदेशामृत का पान करना चाहिये। कुछ लोग बाह्य रूप से तो अच्छा उपदेश देते हैं और जनता को अपनी सदाचारिता का ढोल दिखाते हैं, परन्तु गुप्त रूप में जहाँ के तहाँ रहते हैं और किसी भी प्रकार के अवलम्बन से अपना शैथिल्य पोषण कर लेते हैं। ऐसे लोग भी साधुता से कोसों दूर हैं। अतः इनके चंगुल से भी सदा सावधान रह कर अपना सुधारा करना चाहिये। संसार का चित्र बड़ा विचित्र है, उसको कोई भवभीरु आत्मा ही समझ पाता है। क्योंकि—

विश्व के दृश्य देख ये आज,
रहेंगे आगे ये न कभी।
बदलते रहते सब व्यवहार,
जीव यौवन धन आयु सभी॥
जहाँ थी सघन तमिस्रा तनी,
ज्योति रवि दिखलाती है वहीं।

जहाँ थे नगर वहाँ वीरान,
उनमें रहता कोइ नहीं ॥ १ ॥
जहाँ थे काले बादल घिर,
गरज बरसाते उमड़ घनघोर।
समय पर वहीं सुधाकर चैत्र,
जगत को देता सुधा अथोर ॥
विकसित कानन कभी वसन्त,
सुमन दल से पादप सरसाय।
वहीं पतझड़ का प्रादुर्भाव,
मना खुशी को कर विस्मय। २ ॥

यही संसार की अनित्यता है। इसकी असारता एवं विचित्रता पर विमुग्ध हो मोहमयी निद्रा की गोद में अधिक आसक्त होना लाभकर नहीं है। सांसारिक वस्तु मायामयी घनघोर घनावली की चीत्कार गर्जना के साथ अपनत्व की क्षणिक बिजली के चपल प्रकाश में मग्न हो न भूलो। किसी कवि ने क्या अच्छा कहा है:—

चपल चन्द्र सूर्य हैं चपल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चपल अनिल अनल जल थल,
सब चपल जैसे पारा है॥

जगत प्रकृति से अति ही चचल,
मन की चचल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चपला जैसी,
यह परिवर्त्तनशीला है ॥ १ ॥
अणु-परमाणु सुख दु ख चचल,
क्षणिक सभी सुखसाधन हैं।
दृश्य सकल नश्वर परिणामी,
किसको दु ख किसको धन है ॥
क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।
चचल मानव ! क्यों भूला तू,
रक्खा सृष्टि में सार कहाँ ? ॥ २ ॥

मर्यादित साधुता का अनुसरण करने से अधर्मी मनुष्य भी धर्मप्रेमी बन कर स्वपर का कल्याण करने की क्षमता रख सकता है। कठोर से कठोर क्रूर एव जघन्य कर्म करने वाले पातकी भी सत्पुरुषों के द्वारा बताये गये सन्मार्ग पर चलने से अपने क्रूर कृत्यों से उन्मुक्त होकर निष्पाप बन जाता है। समय आने पर वह विश्व के अभिमुख अपने अखण्डित तेज के अनुपम आलोक द्वारा समस्त विश्व को आलोकित करके परमपद प्राप्त कर सकता है। सच्ची साधुता

का अनुसरण भी सद्भाग्यता से ही मिलता है। कोई कोई ऐसे अभागे मनुष्य भी देखे जाते हैं जो सत्पुरुषों द्वारा सदुपदेश सुनने का अवसर पाकर भी प्रमादवश उसको अपने हाथों से खो देते हैं। मानव के लिये यह स्वभाव सिद्ध है कि वह जानता और समझता हुआ भी शुभकर्म की ओर प्रवृत्त होने की अपेक्षा अशुभ एवं अविहित मार्ग का अनुयायी जल्दी बनता है।

कुछ शिक्षित जन इस कार्य को हेय भी समझते हैं, परन्तु मानव स्वभाव जन्य कुप्रकृति के कारण से वे स्वभावान्ध हो समझ बैठते हैं कि समय बहुत है, अभी तो कई दिन तक जीवित रहना है। पहले सांसारिक कार्यों से निपट लें, बाद में अवशिष्ट आयु सन्मार्ग और साधुता का अनुसरण करने में व्यतीत करना है, यह उनकी भारी भूल है। शिक्षित होकर भी जो मनुष्य की मनोवृत्तियाँ ऐसी विचारधाराओं में प्रवाहित होती रहें, तो उनके शिक्षित जीवन का दुरुपयोग ही है। पूर्व पुण्यपुंज के प्रबल प्रभाव से प्राप्त शिक्षा के साथ विश्वासघात करते हुए शिक्षाशास्त्र को कलङ्कित करते हैं। अज्ञानावस्था में जो पाप, या कुकृत्य कर बैठता है वह इतना पाप का भागी नहीं होता, जितना कि एक शिक्षित, पठित और हिताहित का ज्ञाता पुरुष पाप, और कुकृत्य करके पाप का भागी होता है। यदि विश्व के

समस्त शिक्षितों की यही मनोवृत्तियाँ हो जायँ, तो निरक्षजन को शिक्षित बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रमादावस्था में पहुँचाना हो, जिसका ध्येय मनुष्य को सन्मार्ग से पराङ्मुख रखने का हो, वह 'शिक्षा' क्या शिक्षा नाम से व्यवहृत हो सकती है!, कदापि नहीं। शिक्षा का सदुपयोग प्रमाद छोड़ कर अविलम्ब सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होना है और आदर्श बनना है। जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन करके कर्त्तव्य-दक्षता से अपनी सात्विकी साधुता का परिचय प्रदान नहीं कर सकता, वह मूढ नहीं तो और है क्या? कहा है कि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पण्डितः।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां,
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥ १॥

—मनुष्य शास्त्र पढ़ कर भी मूर्ख होते हैं, परन्तु जो क्रियाकलाप में कटिबद्ध हैं वह पण्डित है। जैसे भलीभाँति शोधा हुआ औषध रोगियों का रोग नाम लेने मात्र से दूर नहीं हो सकता। अतः शिक्षितों को भी साधुता का अनुसरण किये बिना वास्तविक योग्यता नहीं मिल सकती। अपवर्ग के द्वार को खोलने की यही एक कुंजी है।

७ सेवस्व विद्वज्जनम्—विद्वानों की सेवा करो।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य अपने गुणों, या प्रभाव शालिनी योग्यता से उतना गौरवान्वित नहीं होता, जितना कि विद्वानों के सम्पर्क में आकर सहसा संसार के सम्मुख उन्नति के शिखर पर अपनी यशःपताका फहराता हुआ गौरवशाली होता है। क्योंकि अज्ञानी मनुष्य भी विद्वानों की सेवा करते हुए उनके संसर्ग से विद्वत्ता, एवं सुजनता का अभिनायक बन जाता है। इसीसे शास्त्रकारोंने आदेश दिया है कि 'सेवस्व विद्वज्जनम्।' वस्तुतः विद्वानों की सेवा करना, उनके द्वारा प्रदर्शित सन्मार्ग का अनुसरण करना प्रत्येक पुरुष के लिये महान् उपकारी है। ज्ञानी या अज्ञानी, पठित या अपठित, कोई भी विद्वानों की निष्काम भाव से सेवा करता हुआ अपने आपका महान् उपकार कर सकता है। क्योंकि—

दिव्यज्ञानमयी गुणौघसहिता अन्यप्रभाभासुरी,
लोकालोककरी स्वकीयविभया श्रेयस्करी सर्वतः।
विद्वद्भिः परिषेविता च सततं सद्बोधसंदातृभिः,
सेवा वै विदुषां सदैव सुखदा मुक्तिप्रदा जायते ॥१॥

—दिव्य ज्ञान तथा गुण समुदाय से युक्त, अलौकिक कान्ति से देदीप्यमान, अपनी अनुपम प्रभा से संसार स्वरूप को प्रकाशित करनेवाली, सन्मार्गगामी विद्वानों से

परिपालनीय और मब तरह कल्याण करनेवाली मुक्तिदाता एक विद्वानों की सतत सेवा ही है। यह शास्त्रों का सुखद शुभ सन्देश है जिसके परिपालन से प्रत्येक प्राणी सांसारिक वर्शो का ममूला उच्छेद करके अनुपम एव अक्षुण्ण सुख प्राप्त कर सकता है। इससे शुभ सन्देश की महत्ता का महज ही पता लग जाता है। यह सन्देश केवल अज्ञानी, या अपठितों के लिये ही नहीं, किन्तु विद्वान् भी सेवाधर्म से अलभ्य लाभ प्राप्त कर मकता है। जब साधारण मनुष्य की सेवा भी निष्फल नहीं होती, तब सन्मार्गगामी विद्वानों की सेवा फलवती हो, इसम कौन आश्चर्य है ? । जो मनुष्य कठिन तपस्याओं से भी अपने निकृष्ट कर्म नहीं खपा मकता व मेवा करने से क्षय होते ह। इसमे सेवा का मह व मानवजीवन को पूर्ण मार्थक करन की क्षमता रखता है। मेवा मे मानव हर जगह परिपूर्ण रूप से इस लोक मे प्रशसा-पात्र बनता है और परलोक में अतुल सुखसमृद्धि का भोक्ता होता है।

ममाज-मेवा, धर्म-सेवा, ज्ञान-मेवा, राष्ट्र-सेवा आदि सेवा के अनक भेदोपभेद हैं। ममाज को संगठित रखन का प्रयत्न करते रहना, उसम कदाचार या अनीती का प्रवेश न होन देना यह ममाज-मेवा है। किसी को कुमार्ग मे बचा कर सन्मार्ग पर स्थिर रखना, या धर्म में चल-विचल रूप को धर्म में दृढ करना यह धर्मसेवा है। ज्ञान-का

अभ्यास कराना, उसके लिये उत्तेजित करना और ज्ञान की आशातना न करना, न होने देना यह ज्ञानसेवा है। दीन, हीन, दुःखी, रुग्ण, बाल, वृद्ध लोगों को हर तरह शाता पहुंचाना जनसेवा है। राष्ट्र के सकटों को दूर करना, उसमें किसी तरह का विग्रह खड़ा न होने देना यह राष्ट्र-सेवा है। आज गांधीयुग में विश्व के चारों ओर राष्ट्र एवं देश सेवा की बगरती धाराएँ बड़े वेग से प्रवाहित हो रही हैं। उनमें क्या छोटे, क्या बड़े सभी लोग एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवाहित होते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। चाहे उनको देश या राष्ट्र सेवा का अर्थ भलीभाँति विदित न हो, वे एक महान् तपस्वी के अनुयायी हो अपने को राष्ट्रसेवी कहलाने में अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। इसीके पीछे वे कई असह्य यातनाएँ सहन करते हैं, अपने कौटुम्बिक जीवन से प्राप्त सुख को तृणवत् समझ कर विश्व के सम्मुख सेवाधर्म का अनुपम आदर्श स्थापित करते हुए राष्ट्र के हित ऊँची ऊँची दीवालोंवाले कारागृहों में अपना जीवन यापन करने में आनन्द समझते हैं। जिन्होंने सेवाधर्म का परिपालन करते हुए राष्ट्र की बलिवेदी पर अपना बलिदान देने में तनिक भी खेद प्रगट नहीं किया। ऐसी कई आत्माओं का स्वर्णिम एवं अनुकरणीय इतिहास आज भी विश्व के इतिहास में अङ्कित है और सदा के लिये चिरस्थायी होता हुआ सेवाधर्म का पाठ पढ़ाने में पूर्ण सहायक होगा।

समस्त विश्व को सेवाधर्म का पाठ पढ़ा कर जिसने अपनी अलौकिक प्रभा से एक नये युग का निर्माण किया, क्या वह विश्व को आकर्षित करने में सफल नहीं हुआ ?

कुछ लोग अपने स्वार्थ के पीछे दूसरों का गला घोंटते नहीं हिचकते, वे नराधम सेवाधर्म की महत्ता को नहीं पहिचानते। इसका प्रधान कारण है पुण्यक्षीणता। पुण्य क्षीण होने से मनुष्य के अन्दर की सात्त्विकता नष्ट हो जाती है, वह फिर प्रतिपल कुकृत्य करने में संलग्न रहता है। इस प्रकार के मनुष्यों को शास्त्रों में पापान्ध कहा है। ये पापान्ध अपनी अन्धता के वशीभूत हो कर महान् अकृत्य कर बैठते हैं-जिनके कारण इनकी भारी दुर्गति होती है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य सेवाधर्म की महत्ता को हृदयगम करना सीखेगा, तभी उसका जीवन सार्थक होगा। सेवाधर्म का वास्तविक परिपालन करने से और तो क्या देवता तक भी सन्तुष्ट हो कर धन्यवाद देते हैं। महर्षी नन्दीषेण सेवाधर्म के प्रभावसे परम-पद विलासी बने हैं। नन्दीषेणजीने प्रतिज्ञा की थी कि बाल, पुरा एवं वृद्ध मुनिवरों की सेवा करके ही अपनी तपस्या का पारणा करूंगा। इस प्रण के अनुसार नन्दीषेणने साधुसेवा को अपने जीवन का एक ध्येय बना लिया था। योग मिलने पर वे निष्काम भाव से सेवाकार्य करने में जुट जाते। इनके इस दृढ़तम कार्य की प्रशंसा इन्द्रने अपनी देवसभा में की थी। इन्द्र के वाक्य सुन कर किसी मिथ्यात्वी

देवने कहा—यह बात मानने योग्य नहीं, आप कहें तो मैं नदीषेण को क्षण वार में प्रतिज्ञा भ्रष्ट कर आऊँ। इन्द्र की आज्ञा मिलते ही वह देव जहाँ नन्दीषेण था वहाँ आया। उसने दो साधु का रूप विकुर्वण किया। एक रूप को अति सार रोग से पीडित कर जगल में रखा, दूसरे रूप से नन्दीषेण जहाँ अपने तप का पारणा करने की तैयारी कर रहे थे वहाँ आया। कहने लगा कि तुझे यह मालूम नहीं कि जगल म एक साधु अतिसार रोग से पीडित हो मर रहा है ? और तु खाने को तैयार हुआ।

नन्दीषेण उसी समय पारणा की क्रिया को छोड़ कर उसके साथ उस पीडित मुनि के पास आये और साधु की अवस्था को देख कर बहुत दु खी हुए। तत्काल उस साधु को अपने कन्धे पर बैठा कर नन्दीषेणने गाँव की ओर प्रयाण किया। मार्ग में अतिसार पीडित साधुने महा दुर्गन्धित विष्ठा से नन्दीषेण का सारा शरीर खराब कर दिया, पर नन्दीषेण को उससे तनिक भी घृणा पैदा न हुई। वे सहृदयता स उसकी सेवा म सलग्न रहे और अपने और उसके शरीर को धोकर साफ किया। देवता मन ही मन नन्दीषेण के अनुपम सेवाकार्य की सराहना करने लगा और सोचने लगा कि इन्द्रने जो प्रशसा की थी, उससे भी यह अधिक प्रशसनीय है। अन्त म देवने प्रकट हो कर अपने अपराध की नन्दीषेण से माफी माँगी और जयध्वनि

करता हुआ वह स्वर्ग में चला गया। इधर नन्दीषेणने अपनी दृढ़प्रतिज्ञा का परिपालन कर सेवाधर्म के प्रभाव से परमपद प्राप्त किया।

कोई भी मनुष्य सदाचार रत रह कर महर्षी नन्दीषेण के समान निष्काम सेवा करता है वह संसार में आदर्श बन कर सुलभता से परमपद का अधिकारी बन सकता है। सन्मार्ग-प्रिय विद्वानों की सेवा सत्संग का अच्छा तरीका है और इसमें वह शक्ति है-जिसके प्रभाव से खल मनुष्य भी मनुष्य बन कर आदर्शता की उच्चतम सीमा पर पहुँच सकता है। आज संसार में जितने भी महापुरुष आदर्शवादी दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी महत्ता और आदर्शवादिता का मुख्य कारण सत्संग ही है। उन महापुरुषों के सहवास में अपना अमूल्य समय यापन करने से तद्रूप अमूल्यरत्न की प्राप्ति होते देर नहीं लगती और वह संसार के सामने सहसा जगमगा उठता है।

किसी वेश्या के घर कोई महात्मा भूल से चले आये। वेश्याने उनको स्वागत पूर्वक उच्चासन पर बिठलाया। महात्मा कुछ बोले नहीं, परन्तु वेश्या के हृदय पर उनकी अमृतमयी प्रशान्त दृष्टि का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह अपने दुष्कृत्यों का पश्चात्ताप करने लगी। कुछ भी कहे बिना महात्मा तो वहाँ से चले गये, परन्तु अपनी अमीदृष्टि का जो प्रभाव छोड़ गये, उसके प्रभाव से वेश्या दुश्चरित्रों का

त्याग करके भगवद् भक्ति में लीन हो गई। थोड़े काल का भी सत्सग कितना महत्व रखता है, यह उक्त दृष्टान्त से समझ में आ सकता है। इस लिये—

एक घरी आधी घरी, आधी सों भी आध।
कबीरा सगति साधु की, कटै कोटि अपराध ॥ १ ॥
कबीरा सगति साधु की, नितप्रति कीजे जाय।
दुर्मति दूर बहावसी, देसी सुमति बताय ॥ २ ॥

---

८ मान्यान्मानय—मान्यजनों का आदर करो।

जीवन की सफलता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को प्रथम माननीय पुरुषों के प्रति सश्रद्ध होने की और उनका यथोचित सत्कार करने की परमावश्यकता है। सभ्य तथा चतुर मनुष्य की चातुर्य और शिष्टतामयी मानवता का यही एक नम्र निदर्शन है कि वह समय पर महापुरुषों का आदर करे। श्रद्धा और विश्वास से उनके पवित्र आदेशों का प्रतिपल परिपालन करे। ससार के अन्दर यही मानवता पथ च्युत प्राणियों को सन्मार्ग का प्रदर्शन कराती हुई सर्वदा के लिये उदाहरण स्वरूप अनुकरणीय वस्तु बन जाती है—जिस का अनुकरण करके कोई भी व्यक्ति सभ्य एव सज्जनों की गणना में आ सकता है। विश्व में सभ्य तथा चतुर मनुष्यों मे ऐसे पुरुषों की भी अधिकतम सख्या है जो माननीय

महापुरुषों का सत्कार कर, उनके कृपापात्र बनते हुए सभ्य, चतुर और योग्य बन जाते हैं। समयवश वे शनैः शनैः आदरणीय एवं मान्य होकर किसी दिन परम पदवी प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार महापुरुषों द्वारा निर्वाचित सन्मार्ग एवं पवित्र ध्येय का अवलम्ब और समर्थन करते हुए उच्चासन पर अवस्थित होने में भी विलम्ब नहीं होता। वे उस अलभ्य उच्चासन पर आसीन होकर अपने सदुपदेश प्रदान द्वारा कर्त्तव्य-च्युत जनता का महा उपकार कर सकते हैं। माननीय पुरुषों का हार्दिकता से समादर एवं सत्कार करनेवाले स्वपर का कल्याण करते हुए अन्त में मोक्षपद को भी प्राप्त कर लेते हैं। मोक्षप्राप्ति का यह कितना सहज साध्य साधन है-जिसको साधारण मनुष्य भी हृदय गम करके अपने उचित ध्येय की पूर्ति कर सकता है।

जो मनुष्य प्रमाद, या अज्ञान वश गण्य, मान्य सज्जनों का आदर करने मे किञ्चिन्मात्र भी अवहेलना करता है वह किंकर्त्तव्य विमूढ की भाँति स्वय दूसरों से अनादृत होता हुआ पथभ्रष्ट हो जाता है और अन्त में दुर्गति के गम्भीर गर्त्त में गिर कर अपने कृत कुकर्मों का उपभोग करता रहता है और अपने आपको परमपद की प्राप्ति से वंचित रखता है। ऐसे लोक अपना उत्थान कभी नहीं कर सकते। बुद्धिमान् मनुष्य सन्मार्ग में कभी प्रमाद नहीं करता। वह आदरणीय पुरुषों का योग मिलते ही अपना

सब काम छोड़ कर उनकी योग्य परिचर्या एवं सेवा-शुश्रुषा करने में लग जाता है। बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता का परिचायक नमूना यही है कि वह जितने भी योग्य कार्य हैं उन सब का यथाविधि परिपालन करने में तनिक भी प्रमाद नहीं करता। किसी कवि ने ठीक कहा है कि—

मान्यजनों की शुश्रूषा औ पुण्यकार्य में विद्वज्जन,
कभी न करते देर सर्वदा रहते हैं तत्पर तत्क्षण।
विद्वानों की विद्वत्ता ऐसे ही शोभित होती है,
हो न कथंचित् ऐसा तो वह निस्सार भार ही होती है॥१

जो विद्वान् मान्यजनों की सेवा, धर्म-कर्म आदि पुण्य कार्यों में तनिक भी प्रमाद न रख हरसमय तैयार रहते हैं उनकी विद्वत्ता शोभित होती है, अन्यथा उनकी विद्वत्ता खाली भार वहन करती हुई हर समय अभिशापित होती है। विज्ञ लोग प्रत्येक शुभकार्य में व्यस्त रहते हैं, वे बेकार कभी नहीं बैठते और न अपने नाम के पीछे प्रमादी शब्द लगवाना पसन्द करते हैं। प्रमादी होना तो मूर्खों का काम है जो न केवल इस अमूल्य समय का, किन्तु अपने मानव जीवन का दुरुपयोग करते हुए प्रत्येक कार्य में आलस्य कर बैठते हैं। जिन नियमों का परिपालन करने के लिये शास्त्रकारोंने हरघड़ी आदेश दिया है, उनके पालन में आलस्य का आश्रय लेकर पुण्यान्वित होने से वंचित रहना

दुर्भाग्य के सिवाय हो ही क्या सकता है? । साधारण कार्य में जब कि आलस्य मनुष्य के लिये घातक है तो मान्यजनों की सेवा शुश्रूषा आदि पुण्यकार्यों में आलस्य महाघातक सिद्ध है ही। उक्ति भी है कि 'आलस्यो हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपु ' मनुष्यों के शरीर में आलस्य ही भारी दुश्मन है जो धर्मकर्म सब का नाश कर देता है। अत —

य प्रमादवशान्मूढो, मान्यानो मन्यते यदा।
स नून नरक याति, मृत्यन्ते नात्र सशय ॥ १ ॥

—जो मूढ प्रमादवश यदि मान्यजनों का आदर नहीं करता, वह निश्चय से मृत्यु के पश्चात् नरक में जाता है, इनमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसलिये प्रमादों का परित्याग करके मनुष्यमात्र को मान्यजनों की विनीतभाव से सदा शुश्रूषा के साथ साथ उनका उचित आदर करना सीखना चाहिये-जिससे मानव जीवन सफल हो।

---

९ विद्विषोऽप्यनुनय–दुश्मन को भी अपनाओ।

मनुष्य को अपना जीवन उन्नत बनाने के लिये सदा नम्रता का आश्रय लेना चाहिये और अपने दुश्मन को भी अपना लेना चाहिये। नम्रशील व्यक्ति अपने अपरिमित विनय बल से हरएक कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। जिस साधारण कार्य को अविनीत व्यक्ति अपनी अविनयता

के कारण सफल सपन्न नहीं बना सकता। उससे भी अधिक दुस्साध्य एवं कठिनतम कार्य को विनीत व्यक्ति अपनी नम्रता के परिणाम स्वरूप सहज ही में सफल बना सकता है, विनय में यही प्रभावशाली गुण है-जिसका ममत्र लम्बन कर व्यक्ति अपने पतित एवं अवनत जीवन को फिर से उन्नत बनाने की क्षमता रख सकता है। इस प्रकार विनयी मनुष्य अपनी लुप्त संस्कृति एवं विगत मर्यादा को पुनः विश्व के अभिमुख जागृत तथा कार्यान्वित करके अपने को सुसंस्कारी, मर्यादित और कर्मण्यशाली घोषित कर सकता है। सुप्त एवं लुप्तप्राय वस्तु को पुन जागृतावस्था में लाना यह विनयता का ही प्रभाव है। इसीसे शास्त्रकारोंने विनयगुण को सब गुणों में शिरोमणि कह कर विनयता की उच्चता एवं मान्यता प्रदर्शित की है। विनय प्राप्ति का मुख्य साधन विद्याभ्यास है, जो व्यक्ति विद्याभ्यासी है निस्सन्देह वह विनय से ओतप्रोत है। इसके विपरीत जो शिक्षित होता हुआ भी अविनीत है वह विद्वान् कहलाने का अधिकारी नहीं है। उसने तो शिक्षाक्षेत्र में पाँव रख कर, उसको कलङ्कित करने का प्रयत्न किया है और साथ ही अपनी अमानुषिकता मयी अधमता का परिचय देकर विश्व को उन्मत्तता का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुत अविनीत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से पूर्ण हीन है जिसने शिक्षा प्राप्त करके विनयता अङ्गीकार न की हो।

शिक्षा का अन्तिम ध्येय है–विनयी होना। विनयगुण प्राप्त करके शिक्षा-क्षेत्र को विशेष समुन्नत एवं अनुग्रहणीय करना है। ऐसी स्थिति में यदि शिक्षा के साथ साथ विनयता न प्राप्त करना, मतिमान्द्य या मूर्खता के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है? । नीतिकारों का कथन है कि 'विद्या ददाति विनय'–विनय को विद्या उत्पन्न करती है, यह कथन तभी सार्थक हो सकता है–जब विद्याभ्यासी विनयी हो। इसलिये विद्याभ्यास से उत्पन्न होनेवाले विनयगुण को अपना कर शिक्षा-क्षेत्र को प्रोज्ज्वलित करना मनुष्यमात्र का प्रथम कर्त्तव्य है।

आज के विपरीत साँचे मे ढले हुए विद्यार्थी कितने उन्मत्त, उच्छृंखल और अविनीत होते हैं?, यह प्रायः सभी जानते हैं। इनकी इस उन्मत्तता एवं उच्छृंखलता का मुख्य कारण पाश्चात्य रंग में अनुरञ्जित होकर शिक्षा प्राप्त करना है। एक ओर भारतीयता का गर्व रख कर, दूसरी ओर अविनीत एवं उन्मत्त बनानेवाली पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करना अपनी रही सही संस्कृति का समूलोच्छेदन करने के लिये और क्या? यही एक कारण पर्याप्त है। इसको प्राप्त करने की अभिलाषा मात्र से शिक्षार्थी की न केवल बाह्य, किन्तु आन्तरिक मनोभावनाएँ इतनी कलुषित एवं मलिन हो जाया करती हैं कि उस शिक्षा का अध्ययन, मनन एवं परिशीलन

करने से सांस्कृतिकता और मर्यादा की रक्षा नहीं हो सकती। यह सब पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का प्रभाव है कि आज यह धर्मप्राण भारत प्रदेश धार्मिकता से कितना ही पछात रह गया है। जहाँ प्रत्येक घर में धर्म और सदाचरण का अनवरत गति से सचार होता रहता था, आज वहाँ अधर्म और दुराचार स जीवन यापन हो रहा है। भारतीय इतिहास के पन्ने उलटने से पता लग जायगा कि हम आज कितने कायर एव हृदयहीन होते जा रहे हैं। जहाँ का बचा बचा धर्म की रक्षा के लिये हँसते खेलते हुए भी अपने प्राणों की बलि देने में सकोच नहीं करता था, आज उसी भारत के पाश्चात्य शिक्षा शिक्षित लोग सन्मार्ग को रूढ़ी और धर्मो पदेष्टाओं को कूपमडूक की उपाधि प्रदान करके अपने मुख को दुर्गन्धित करन में जरा भी नहीं हिचकते। यह सब भारत के लिये कितनी लज्जा जनक बात है?।

वस्तुत शिक्षा ऐसी होना चाहिये-जिसस शिक्षार्थी धर्म एव सदाचार के सत्पथ पर अपना जीवन व्यतीत करता हुआ विनयी बन कर शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को सिद्ध करने म पूर्ण शक्तिशाली हो सके, तभी शिक्षा की उचित उन्नति हो सकती है। प्राचीन काल की शिक्षा कितनी लाभ दायिनी होती थी, इसका अनुमान कुछ इतिहासज्ञों को अवश्य होगा। उस समय का साहित्य एव कला कौशल आज नाममात्र के लिये अवशेष है। कहा है कि—

कमनीय कोमल वह कला, कौशल रहा अब है नहीं।
सुन्दर सरस साहित्य का, सधान भी अब है नहीं॥
वह धर्म कर्म समाज की, कर्त्तव्यता अब है नहीं।
जो थी पुरातन काल में वह, शक्ति भी अब है नहीं॥१॥

प्राचीन वे गुरुकुल हमारे, अब नहीं अवशेष हैं।
विस्मय जनक सद्बोध का, कुछ भी नहीं लवलेश है॥
था पूर्व में कैसा व अब, कैसा घना निज वेश है।
यों सब तरह से आज यह दयनीय भारत देश है॥२॥

पाश्चात्य शिक्षा से कोई विरोध नहीं, मनुष्य को समस्त विद्याओं का अध्ययन करना चाहिये, परन्तु उनके साथ साथ किसी एक विद्या पर आवश्यकता से अत्यधिक आसक्त होकर अपनी प्राचीन विद्या से जिसके आधार पर अपने राष्ट्र की संस्कृति का अस्तित्व अवलम्बित है उसको भूल कर नवीन शिक्षा में रगा जाना उचित नहीं है। विनयता पर प्रहार कर उद्दण्डता और उन्मत्तता का पाठ सिखानेवाली नवीन शिक्षा है। नवीन शिक्षा के साथ धर्म, सदाचार व विनयता के पथ को प्रदर्शित करनेवाली उस प्राचीनतम शिक्षा को भी नवीन शिक्षा का एक अंग मान कर, उसका अध्ययन करना प्रत्येक शिक्षार्थी का प्रमुख कर्त्तव्य है। ऐसा करने से ही राष्ट्र या समाज की समुन्नति हो सकती है। उच्छृंखलता से किसी कार्य की उन्नति होना सर्वथा असम्भव

है। धर्म की मूल भित्ति विनयता है, इसके बिना मनुष्य के हृदय म धार्मिकता का अकुर नहीं ऊगता। जहाँ विनयता है वहीं उत्थान और प्रगति है एव सभी प्रकार का विकास है। विनयता के अभाव में उन्नति के स्थान पर अवनति एव उत्थान के स्थान पर पतन है। प्रत्येक कार्य में असफलता के चिह्न प्रथम से ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अविनीत स्थल पर धर्मतरु किस प्रकार अकुरित, पल्लवित एव फलित हो सकता है ?। धर्मतरु को अकुरित और फलित करने के लिये विनय रूपी नीर से सींचने की आवश्यक्ता है। विनय रूपी निमल सलिल क सिंचन स धर्म रूपी कल्पवृक्ष फलसपन्न होकर यथच्छ फल प्रदान कर सकता है। कहा है कि—

विनयेन द्रवीभूत, मानस यस्य विद्यते।
करमध्यगतास्तस्य, सिद्धय सकला शुभाः ॥१॥

—जिस मनुष्य का हृदय नम्रता स पिघला हुआ है उसकी हथली मे सभी कल्याण कारिणी सिद्धियाँ आइ हुई जानना चाहिये।

शास्त्रोंने इसीसे आदश दिया है कि 'विद्विषोऽप्यनुनय' शत्रु स भी नम्र होकर व्यवहार करो। इस आदेश को अङ्गीकार करके कई विभूतियाँ परमपद प्राप्त कर चुकी हैं। इसलिये अवशेष प्राणिओं को भी उक्त आदश का पालन

करते हुए शत्रुओं के साथ नम्रता का व्यवहार सीखना चाहिये।

---

१० प्रख्यापय स्वान् गुणान्—उत्तम गुणों से प्रसिद्ध होना सीखो।

संसार में ऐसा कौन प्राणी होगा जो अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नतशाली बनाने में प्रयत्नशील न रहता हो। यह तो सांसारिक गति-विधि है ही किन्तु साध्य कष्टों को सहन करके भी अपने को गौरवान्वित कहलाने में अपने जीवन की सफलता समझना, वस्तुतः ऐसा होना भी चाहिये। जो मनुष्य अपने जीवन की गति-विधि को न पहिचान कर व्यर्थ के निस्सार कामों में अपने अमूल्य समय का सर्वनाश करता है, अपने जीवन को पतितावस्था में पहुँचाता है, पशुता एवं अमानुषिकता का परिचय देता है और इसी प्रकार के कई कुकृत्यों से मानवता पर कालिमा पोत कर अपनी हीनता दिखलाता है, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। वह तो उन भारभूतों में है-जिन्होंने अपने निस्सार मय कुकृत्यों से पृथ्वी को अधिक भारवाहिनी बना रक्खी है। ऐसे भारभूतों का जन्म यदि संसार में व्यर्थ नहीं है, तो और है क्या ? । किसी कविने लिखा है कि—

जिनने नरजीवन पा करके,
शुभ काम किया न कभी जगमें ।
जग को लखि क दु खतप्त कभी,
उमडी न दया जिनके रग में ॥
भजते न कभी प्रभुनाम वही,
कहते जग को प्रभुनाम भजो ।
उनका यह जीवन भूतलपे,
अति भार समान हुआ समझो ॥ १ ॥

इसलिये प्राप्त मानव जीवन को प्रशसनीय बनाने के लिये ससार क अन्दर शुभ काम करना चाहिये । ससार गत प्राणियों को दु खी देख कर उनका यथाशक्ति दु ख दूर करने का प्रयत्न करना और शुभकार्य करने का प्राणी मात्र को उपदेश देना चाहिये-जिससे अन्य मनुष्य भी पृथ्वी के लिये भारभूत न हो सकें । यह सद्गुणी होने का एक सुगम साधन है-जिससे मनुष्य अपने जीवन को अधिक उन्नत एव गौरवशाली बनाने म सफल हो सकता है । गौरवहीन निर्गुणी मानव भी उक्त साधनों का प्रयोग करके अविलम्ब कार्यान्वित हो सकता है ।

आधुनिक वातावरण में कई गुणवान् और बुद्धिमान् अपने मुँह से अपनी प्रशसा करने लग जाते हैं । अपने मुँह मियामिट्ठू बनना यह मूर्खता का या अभिमान का चिह्न है ।

कई मनुष्य तो सिद्ध साधक बन करके जनता की आँखों में धूल डालते हुए अपने पाखण्ड का साम्राज्य संस्थापित करते हैं और लम्बे हाथों अपने आपका विज्ञापन देकर जनता को ठगते हैं। क्या अपने मुँह से अपनी प्रशंसा के घोड़े दौड़ाने से किसी की कदर बढ़ सकती है? जो मनुष्य अपने मुँह से अपना उत्कर्ष नहीं दिखलाता और ऊँचा से ऊँचा कार्य चुपचाप करता है, उसको सारा संसार सराहने लगता है। जो लोग आत्मश्लाघा में मग्न हैं उनका उलटा तिरस्कार ही होता है। शास्त्रोक्ति भी है कि "आत्मश्लाघी पतति परितो ह्यश्नुते चापमानम्"—आत्म प्रशंसा करने वाला मनुष्य पद पद पर तिरस्कृत होता एवं गिरता रहता है। उसको कदाचित् मूर्खजनों के द्वारा कुछ सफलता भले ही मिल जाय, परन्तु विशेषतः उसको प्रत्येक स्थान पर असफलता का ही सामना करना पड़ता है। विद्वान् और गुणी जनों के मध्य में आत्मश्लाघी मनुष्य की दाल नहीं गल सकती। वह अपने आपकी प्रशंसा करता हुआ दूसरों के सामने गुणवानों की अनुचित निन्दा करने में नहीं चूकता, परन्तु अन्ततः अपना भेद खुल जाने पर विद्वानों के सामने उसको नतमस्तक होकर लज्जित होना पड़ता है।

एक समय राजा भोजने यह आज्ञा घोषित की कि जो कोई पण्डित नवीन श्लोक बना कर लावेगा उसको एक लक्ष रुपया मिलेगा। राजा की उज्ज्वल कीर्ति के साथ

यह आना चारों ओर फैल गई। कई विद्वान् नया श्लोक बना कर लाये और पुरस्कार लेकर चले गये। धारानगरी से कुछ दूरी पर 'शतजय' नामक कवि पण्डित रहता था-जो प्राय राजा भोज की सभा क रत्न कालिदास से ईर्ष्या रखता था। कवि शतजय में दूसरों की निन्दा करने का भारी दुगुण था। शतजयन आत्मश्लाघा और परनिन्दा से युक्त एक श्लोक बना कर अपन शिष्य के द्वारा राजा भोज के पास पहुँचाया कि—

अपशब्दशत माघे, भारवौ च शतत्रयम्।
कालिदासे न गण्यन्ते, कविरेक' शतजय ॥ १ ॥

—माघकाव्य म एकसौ अपशब्द हैं, भारवी कवि क काव्य में तीनसौ अपशब्द हैं, और कालिदास क काव्यों म तो इतन अपशब्द हैं कि जिनकी गिनती नहीं हो सकती। दुनिया में कवि तो एक शतजय ही है जिसकी काव्य पदावली म एक भी अपशब्द नहीं है।

शिष्य इस श्लोक को लेकर जा रहा था कि दैवयोग से मार्ग म कालिदास मिल गय। कालिदासने पूछा कि तुम कौन हो ?। शिष्यन कहा-मैं कवि शतजय का विद्यार्थी हूँ। कालिदास-तुम्हार गुरुजी आनन्द में तो हैं। शिष्यने कहा-जी हाँ, बड़े आनन्द में हैं। कालिदास-यह हाथ में किसका पत्र है ?। शिष्य-गुरुजीने यह श्लोक बना कर

राजा भोज को देने के लिये भेजा है। कालिदास-जरा दिखलाना। शिष्यने कालिदास को पत्र दिया। कालिदास उस श्लोक में अपनी निन्दा देख कर बोले कि तुम्हारे गुरुने श्लोक अच्छा बनाया है, इसे देख कर राजा भोज एक लक्ष रुपया इनाम देंगे। परन्तु इसमें एक त्रुटि रह गई है, वह सुधर जाय तो राजा साहब बहुत प्रसन्न होंगे। शिष्यने कहा-वह त्रुटी कृपाकर आप ही सुधार दीजिये। कालिदासने 'अपशब्द' के स्थान पर 'आपशब्द' बना कर पत्र दे दिया। शिष्यने कहा कि आपने बड़ी भारी कृपा की। अपना शुभनाम कहिये, मैं आपकी कृपा के लिये अवश्य गुरुजी से निवेदन करूंगा, जिससे वे आपके पवित्र दर्शनों का लाभ ले सकेंगे। सरलाशयी भोले शिष्य की वाणी से कालिदास मन ही मन मुसकराये और कुछ न कह कर चल दिये। शिष्यने राजसभा में जा कर राजा भोज की सेवा में वह श्लोक समर्पण कर दिया और कहा कि यह श्लोक कवि शतजयने मेरे द्वारा भेजा है। राजा भोजने उसे उठा कर पढ़ा और मनन किया कि—

आपशब्द शतं माघे, भारवौ च शतत्रयम्।
कालिदासे न गण्यन्ते, कविरेकः शतजयः॥ १॥

—आप-जल के सौ नाम तो माघकवि को ज्ञात हैं, तीनसौ भारवी कवि को और कालिदास को तो जल के इतने

नाम ज्ञात हैं कि उनकी गिनती ही नहीं की जा सकती। शतजय को तो केवल एक आप शब्द ही याद है, इसके अतिरिक्त जल का पर्याय वाची एक भी शब्द याद नहीं है।

सभा में उपस्थित सभी पण्डित श्लोक को सुन कर कवि शतजय का उपहास करने लगे। स्वयं राजा भोज को भी हँसी आ गई। यह सब देख कर शिष्य विस्मित हुआ और लज्जा के मारे वहाँ से चल दिया। गुरु के सामने राजसभा की समस्त बात कह दी। कवि शतजयने आवेश में आकर पूछा-मार्ग में मिलने वाला व्यक्ति कौन था?, शिष्यने डरते हुए कहा-गुरुदेव बहुत पूछ परछ करने पर भी उसने अपना नाम नहीं बताया और हँसते हुए चल दिया। शतजय को विश्वास हो गया कि कालिदास के सिवा दूसरा कोई होना सर्वथा असम्भव है। शतजय मन ही मन अत्यन्त लज्जित हो कर उसी दिन अन्य देश में चला गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मप्रशंसा एवं दूसरों की निन्दा करनेवाला मनुष्य अवश्य तिरस्कार पात्र होता है और पश्चात्ताप के साथ लज्जित होकर उसको कवि शतजय के समान आखिर परेशान होना पड़ता है। इसीसे नीतिकार कहते हैं कि 'प्रख्यापय स्वान्गुणान्' प्रत्येक मनुष्य को आत्मश्लाघा से नहीं, किन्तु अपने उत्तम गुणों से प्रख्यात होना चाहिये। यदि सद्गुण युक्त आत्मा होगी तो वह विश्व के चारों ओर स्वयं प्रकाशमान हो जायगी

सब कोई उसकी उज्वल कीर्त्ति का गुणगान करने लग जायँगे। जो लोग आत्मप्रशसा करने में नहीं हिचकते, उनकी भारी अधमता है। आत्मप्रशसा करके वस्तुतः मनुष्य अपनी पतितावस्था के और भी निकट जाकर अपने आपको उसमें गिराने का प्रयत्न करता है। मनुष्य अच्छा तभी कहलावेगा जब कि सारा समाज उसको सराहायगा। सियार अपने मुँह से अपने को सिंह घोषित करके यदि जगल का राज्य करना चाहे तो क्या कर सकता है ?, यही बात आत्मश्लाघी के लिये है। इसलिये अपने जीवन को वास्तविक उन्नत और गौरवशील बनाने के लिये मनुष्य को अपने गुणों से प्रशसित होना चाहिये, अपने मुह अपनी प्रशसा करके नहीं।

---

११ कीर्त्ति पालय—अपने यशवाद की रक्षा करो।

मनुष्य जब निष्काम भाव से कई साधनों में सलग्न रह कर उन साधनों द्वारा समाज व देश का कल्याण करता है, तभी वह कीर्तिशाली और यशस्वी कहलाता है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने पूर्व सुकृत पुण्य के प्रभाव से सासारिक दुःखों का समूल विनाश करके अक्षय एवं असीम परमानन्द की प्राप्ति के लिये सासारिक वस्तुओं के साथ ससार का परित्याग करता है और पुन' पुनः जन्म मरण

की असह्य दु.ख परम्परा से बचने के लिये विशुद्ध सयम पथ को अगीकार करता है, तब वह सच्चा कीर्त्तिशाली होता है। ऐसे पुण्य–पुरुष की उज्ज्वल कीर्त्ति सदा अविचल रहती हुई उसका गुणगान कराती रहती है । विश्व को आकर्षित कर यशस्वी पुरुष की कमनीय कीर्त्तिपताका यावचन्द्रदिवाकरौ फहराती हुई उसको अमरत्व प्रदान कर यश कार्य से जीवित रखने की पूर्ण क्षमता रख सकती है। इतनी सजीव कल्याण कारिणी क्षमता कीर्त्ति रूपी गुणरत्न के अतिरिक्त अन्य गुणों में होना सर्वथा असम्भव है ।

कीर्त्ति मनुष्य को सहज में नहीं मिलती । इसकी प्राप्ति पूर्व सचित पुण्य से होती है । जो मनुष्य सुसस्कृत और पूर्व सचित पुण्य से युक्त है, उनको साधारण कार्यों में भी यश मिल जाता है और जो असस्कारी एव पुण्यहीन हैं उनको कठिनतर कष्टसाध्य कार्य करने पर भी यश के स्थान पर अपयश का बोझा ढोने को मिलता है । उस अपयश के बोझ को वहन करनेवाले व्यक्ति भी ससार की वेदी पर अपने स्वार्थ की बलि करके धीरे धीरे इसी लोक में पुण्य सचय कर लेते हैं। उसके प्रभाव से वे एक दिन सुसस्कृत हो कीर्त्तिशाली पुरुष के समान यशःसपन्न बन कर ससार के सामने उज्वल आदर्श स्थापित करते हैं । उनकी यशो दुन्दुभी का मधुर नाद दिग् दिगन्त में गूज कर विश्व को आकर्षित कर सकता है ।

निष्काम भावना की साधना यद्यपि दुर्लभ है, परन्तु यशस्विता के लिये वह अनिवार्य है। निष्काम भावना सत्पुरुषों की आन्तरिकता का प्रतीक है, इसलिये कीर्तिशाली पुरुष को निष्काम भाव से विश्व का उपकार करके कीर्ति सञ्चय करना चाहिये। निष्काम भाव से कोई भी कार्य करने पर मनुष्य अवश्य यशस्वी एवं गौरवान्वित होता है। इसी प्रकार निरीह भाव से प्रभावित होकर जो तप, जप, सेवा आदि सदाचार विषयक सदनुष्ठान किये जाते हैं वे लोकोत्तर में फलदायक होते हैं। वस्तुतः क्रिया करना ही हमारा कर्त्तव्य है, उसका फल तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'–क्रिया करने में तुम्हारा अधिकार है, फलेच्छा में नहीं। फलप्राप्ति की कामना करने से अधिक फल प्राप्त नहीं होता, किन्तु फलप्राप्ति की कामना ही फलप्राप्ति के साधन को बिगाड़ देती है। सिद्धान्तकारों ने कहा भी है कि जो कामना रूपी शल्य से रहित है वही वस्तुतः विश्व में कीर्तिशाली बन सकता है। उसके जीवन की वास्तविक सफलता तभी हो सकती है जब कि वह शुद्ध एवं सुस्थिर चित्त से धार्मिक सदाचार विषयक शास्त्र–निर्दिष्ट नियमों का अनवरत गति से परिपालन करता रहे, अन्यथा उसको कुसंस्कार, या कुसंग वश अनुचित कार्यों द्वारा कलङ्कित करना–मानवता को अधमता की पराकाष्ठा पर पहुँचाना है। साथ ही अपनी मानवता के साथ विश्व-

सघात रुरक विश्व के सामने उसको पतित बनाना है। ससार कलङ्कित जीवन को सहन नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपनी उज्वल कीर्ति पर अनौचित्य का अमिट धब्बा लगा देता है, वह समस्त विश्व की स्नेहमयी दृष्टि से गिर कर अति सुदूर पतितावस्था के गहरे गड्ढे में लुढ़कता हुआ अपने कलङ्कित जीवन को व्यतीत करता करता ससार से कूच कर जाता है, बाद में उसके अनौचित्य का वह काला धब्बा निन्दनीय कुस्मारक का रूप बन कर उसके निन्दनीय जीवन की घोषणा करता रहता है। कहा भी है कि—

पुण्य-पुज के ही प्रभाव से,
मिलती है शुभ कीर्त्ति महा।
सकल शास्त्र तत्वार्थ विज्ञ,
सन्मुनियोंने यह वचन कहा।
पर जो अनुचित कृत्यों से,
निज कीर्त्ति कलंकित करता है।
वह अधम पुरुष अवनति के,
गहरे गड्ढे में गिर मरता है ॥ १ ॥

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपनी उज्ज्वल कीर्ति को सत्कृत्यों द्वारा विशेष रूप से प्रोज्ज्वल करके उसकी सब प्रकारसे रक्षा करना चाहिये-जिससे ससार के सामने वह प्रशसनीय, अमिट और चिरस्मरणीय बनी रहे। कहावत है कि—

जिनका जग में यश नहीं, वे नर क्या जीवन्त ?
जो नर यश लेकर आथमें, रवि पहिले ऊगन्त ॥१॥

---

१२ दु.खिते कुरु दयाम् दु.खी जीवों पर दया लाओ।

यह तो प्राय सब को मालूम है कि प्राणी जब ससार में ज`म लेता है तब कई योनियों में भटकता हुआ अनेकानेक दु खों से सन्तप्त होकर अलभ्य मानव जीवन में आता है। इतनी यातनाओं के भुगत लेने बाद भी प्राणी के अन्त पटल पर जब मानवजीवन का मदमय नशा छा जाता है, तब वह अपने सामने किसीको कुछ नहीं समझता। अपने [illegible] सर्वेसर्वा मान कर हीन दीन जनता को अपने अनुचित [illegible] कारों क बल सन्तप्त करने कराने में अपने जीवन [illegible] माव लक्ष्य समझ बैठता है। न्याय या अन्याय [illegible] लोगों का रुधिर चूम चूम कर द्रव्योपार्जन [illegible] इन्द्रियों को तृप्त करना उसक लिये सर्वश्रेष्ठ [illegible] रूप से परम कर्त्तव्य नियत हो जाता है। [illegible] हुई क्षुधित और पिपासित जनता को अपन [illegible] कर आन्तरिक वेदनाओं से भरी हुई उनकी [illegible] कुछ विचार न कर, उन पर दया नहीं [illegible] की दानवता की आड़ में क्या मानवता का [illegible] भोली जनता की आँखों में धूल डालना [illegible]

विश्वासघात करके अपना स्वार्थ साधन करना मानवजीवन का लक्ष्य कहा जा सकता है ?, कदापि नहीं। वास्तव में क्षणिक मद में मग्न होकर ऐसा मानव कुनीति के सुदृढ पाश में अपने आपको फँसा कर वैयक्तिक रूप से खुद के साथ विश्वासघात करता है और इससे वह अपार सुखसौरभ का अदन करके दुर्गति के गर्त में पहुँच कर असह्य वेदनाओं का शिकार हो, महान् कष्टों का सामना करेगा।

विश्व की क्षणिक तड़क भड़क और चकाचौंध से अपने को न बचा करके मानव अपने अलभ्य जीवन का दुरुपयोग करने में अविचारशीलता का परिचय देता है। साथ ही पूर्वसुकृत से प्राप्त प्रभुत्व का भी सदुपयोग न करके विश्व के सामने अपने को मदान्ध घोषित करता है। राजसी प्रभुत्व एवं वैभव से उत्पन्न मद के वशीभूत होकर ये निर्दयी मानव सांसारिक क्षेत्र में इस तरह विचरते हैं कि इनके द्वारा कोई अशक्त या असहाय कुचला भी जाय तो इनको कुछ पता नहीं लगता। ये अपने नशे में चूर होकर अभिमान भरे शब्दों में वार्तालाप करते और असहाय अनाथों के साथ दुर्व्यवहार करके उनका उपहास करने में लज्जित एवं सकुचित नहीं होते। लिखा भी है कि—

प्रभुता पाकर कौन नहीं,
करता है जगती में अभिमान।

दीन हीन औ पतित जनों का
कभी न रहता उनको भान।
निर्दयता से दु:खीजनों को
घना दु:खी बतलाते शान,
हन्त! आज भारत का इनसे
कैसे शेष रहेगा मान? ॥ १ ॥

संसार में मदभरी प्रभुता मनुष्य को अभिमान और दुर्वासनाओं का कलुषित केन्द्र बना देती है–जिससे वह दीन, हीन, पतित और दु:खी जनों का ध्यान न रख कर अपने अनुचित अधिकारों से उनको विशेष दु:खी बना कर अपने को सच्चा गौरवशाली एवं प्रभुत्व-सम्पन्न समझता है, यह उसकी मानवता नहीं, पशुता है। इस पशुता से तो सभ्य समाज में यही माना जायगा कि ऐसे निर्दयी जनों का संसार में जन्म न होता तो अच्छा था। इन मदोन्मत्त पुतलों को यह भी ध्यान नहीं कि संसार से कूच करते समय प्रभुता एवं राजसी वैभव क्या साथ आवेगा?, अपनी उद्धताई से ये लोग इस अभिमान में चूर रहते हैं कि हमारी प्रभुता, राजसी वैभव और सुख सामग्री को छीन लेने में या बाधा डालने में कौन साहस रखता है?, ये तो हमारी अविचल सम्पत्ति है और इस पर अपना कोई अधिकार नहीं जमा सकता। इसी मदोन्मत्तता में ये लोग मौत को

भी भूल जाते हैं और अपने को अजर अमर मान कर मृत्यु के साथ ठठोली करते रहते हैं। अगर मृत्यु का स्मरण हो आता है तो भी ये अपनी एठाई को नहीं छोड़ते। इन बिचारों को यह पता नहीं कि संसार में बड़े बड़े चक्रवर्ती भी मृत्यु के सामने कुछ जोरजुलम नहीं कर सके तो औरों की क्या गिनती है?। मृत्यु समदर्शी है, उसके लिये दीन, धनवान, राजा, सम्राट्, चक्रवर्ती और पशु आदि सब प्राणी एक समान हैं। उसकी किसी पर महरबानी नहीं है। उसके सामने किसी का अभिमान नहीं चल सकता। संसार में ऐसा न कोई उपाय है और न ऐसी कोई विद्या या न कोई ऐसी शक्ति है जो प्राणियों को मृत्यु से बचा सके। उत्तराध्ययन सूत्र के १३ वें अध्ययन में लिखा है कि—

जहेह सीहो व मियं गहाय,
  मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
  कालम्मि तम्मि महरा भवंति ॥ २२ ॥

—जैसे सिंह मृग को अपने अधिकार में ले लेता है उस समय मृग का कुछ जोर नहीं चलता। उसी तरह जब मौत आकर खड़ी हो जाती है तब माता, पिता, भाई आदि कोई भी मौत से बचा नहीं सकते। चाहे कोई महा-साम्राज्यशाली हो, चाहे सम्राट् चक्रवर्ती हो और चाहे अतुल बलधारी सुरेन्द्र हो, मौत के सामने सब शक्ति और साहस

हीन हो जाते हैं। मौत के आते ही सारे साम्राज्य, वैभव, मकान, महलात, भण्डार, ऐश आराम, भाई, बन्धु आदि सम्बन्धों को छोड़ कर परलोक में अकेले ही प्रस्थान करना पड़ता है। कहा है कि—

कचन के आसन वासन सब कंचन के,
कचन के पलग अमानत धेरे रहे।
हाथी हुड़शालन में घोड़े घुड़शालन में,
बन्द जामदानन में कपड़े पड़े रहे॥
बेटा बेटी बहू अरु दौलत का पार नहीं,
जौहरात डिब्बों पर ताले ही जड़े रहे।
व देह छोड़ कर जब लम्बे हुए प्राण तो,
कुलके कुटुम्बी सब रोते ही खड़े रहे॥ १॥

परभव का साथी तो सत्कर्म-धर्म ही है और धर्म का वास्तविक रूप तथा आन्तरिक तथ्य-तत्त्व प्राणीमात्र पर दया रखना है। असहाय एवं शक्तिहीन प्राणियों की सहायता करके उनकी आत्मा प्रसन्न कर देना यही वास्तविक दयाशीलता है। दुःखी और पीड़ित जीवों को विशेष दु:खित बना करके दयालुता की डींग हांकनेवाला व्यक्ति न कभी दयाशील कहलाता है और न उसके ऐसे कर्म को दया कहा जा सकता है। दयालु पुरुष की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति, उसकी आत्मा पर पड़ जाने का नाम ही दया है। जब तक मनुष्य ' आत्मवत्सर्वभूतेषु ' के भाव अपने

अन्तःपटल पर अंकित करके उन्हें कार्य रूप में परिणत नहीं करता, तब तक वह दया के माहात्म्य का वास्तविक अर्थ समझने में अनभिज्ञ है। इसी अनभिज्ञता के फल स्वरूप वह 'दया' से सर्वथा वञ्चित रह कर अपने को अधर्मी, पापी, दुष्ट और दुराचारी बनाने में देर नहीं करता। जो मनुष्य दयाहीन है-निर्दयता पूर्वक पीड़ितों पर प्रहार करता है और धर्म के असली तत्त्व को भूल कर वैभव एवं प्रभुता के नशे में उन्मत्त होकर हिंसावृत्ति पर तुला रहता है। वह अधर्मी, पापी, दुष्ट और दुराचारी नहीं तो दूसरा क्या कहला सकता है ?। अपने इन्हीं दुष्कर्म द्वारा वह मानवजीवन का दुरुपयोग करके दुर्गति का पात्र बनता है। अतः प्राणीमात्र पर दया रखना यह धर्म सनातन है। तुलसीदासजी कहते हैं कि—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान ॥ १ ॥

वस्तुतः दया धर्म की वास्तविक जड़ है। जिस धर्म में दया नहीं वह धर्म नहीं। वह तो कपोल कल्पित संसार की आँखों में धूल डाल कर उदरपूर्ति मात्र का पाखण्ड है। किसी भी सम्प्रदाय या धर्म में प्राणियों का हनन करने या उनकी आत्मा को कष्ट पहुँचाने का आदेश नहीं दिया। प्रत्युत लिखा है कि—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारस्तु पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥ १ ॥

–अठारह पुराणों में व्यासजी के सार युक्त केवल दो वचन हैं–एक तो परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं और दूसरा किसी को कष्ट पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं। इसी प्रकार इस्लामों के धर्मग्रन्थों में अहिंसा का स्वरूप दिखलाते हुए कहा है कि मुसलमान वही है जबान और हाथ से किसी को दु ख न पहुँचावे। ईमानदार व्यक्ति वही है जिससे सब की आत्मा प्रसन्न रहती हो। ईसाइयों के इञ्जील में कहा है कि-तू किसीको मत मार। कवि शेखसादी का कहना है कि 'जेरे पायत गर, बिदानी हाले मोर। हम चो हाले तस्त, जेरे पाये पील'– तुम्हारे पाँव के नीचे दबी चींटी का वही हाल होता है, जो तुम हाथी के पाँव के नीचे दब जाओ तब तुम्हारा हो। बौद्धों के धम्मपद-ग्रन्थ में लिखा है कि 'सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं, सभी मौत से भीत होते हैं, ध्यान रखो तुम भी उनके समान हो। इसलिये किसीकी हिंसा न करो और न किसीका सहार होने दो। जो हिंसा करता है, मिथ्या भाषण करता है, जो दूसरों की चीज उसके दिये बिना अपहरण करता है, वह इस लोक में अपने हाथ से अपनी जड़ खोदता है।' जैनग्रन्थकार कहते हैं कि—

सव्वे वि सुक्खकारी, सव्वे वि हु दुक्खभीरुणो जीवा।
सव्वे वि जीवियपिया, सव्वे मरणाउ बीहंति ॥ १ ॥

—सब जीव सुख को चाहते हैं, दुःख से सब प्राणी डरते हैं, सर्व जीवों को अपना जीवन प्रिय है और प्राणी मात्र मरण से डरते हैं। इसलिये आत्मार्थी और सुखाभिलाषी मनुष्यों को जीव मात्र की रक्षा करना सीखना चाहिये, सुख प्राप्ति का यही मार्ग है। कबीरजी कहते हैं कि—

दया दिल में राखिये, तू क्यों निरदय होय।
साँइ के सब जीव है, कीरी कुजर दोय ॥ १ ॥
बकरी पाती खातु है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है, तिनको कौन हवाल ॥ २ ॥
गला काटि कलमा भरे, किया कहै हलाल।
साहब लेखा मागसी, तब होसी कौन हाल? ॥ ३ ॥

इस प्रकार सभी मत मतान्तरों के धर्मग्रन्थ पुकार पुकार कह रहे हैं कि 'दुःखिते कुरु दयाम्' दुःख—पीड़ित प्राणियों पर दया करो। यही अनुपम आदर्श प्रत्येक धर्माचार्य ने अपने अपने अनुयायी भक्तों को देकर मोक्ष प्राप्त करने का सुगम सरल पथ प्रदर्शित किया है। जीवों पर दयादृष्टि रखने का भाव उत्पन्न होना मनुष्य के लिये बड़े सौभाग्य की बात है। दयाभाव पैदा होना मानो शुभ दिवस की किरण उदय होना है। इसी किरण के प्रभाव से

नुष्य अपने मानवजीवन को सफल करता हुआ जीवन
बंधण से मुक्त होता है । इसलिये अहिंसा मोक्ष का
कारण मानी गई है । अहिंसा परमपद पर अधिष्ठित
होने की कुंजी है, फिर क्यों हतभाग्य मानव अपने द्वारा
दूसरों की आत्मा को कष्ट पहुँचा कर पाप का भार
लेता है? जो यहाँ भी दुःखदायी है और परलोक में
भी। वह यह नहीं सोचता कि मैं जिस प्रकार प्राणी को
कष्ट दे रहा हूँ या मेरे कुकृत्यों से उसकी आत्मा को
वेदना हो रही है, यदि उसी प्रकार वह मुझे कष्ट पहुँचावे
और मेरी आत्मा को वेदनाओं से व्यथित बना दे तो मेरी
क्या अवस्था होगी?, ऐसा क्यों न समझने लगा। यदि
वह इस प्रकार मनन करके अपनी मानसिक शक्ति को
परिवर्तित कर दे, तो उसे किसीको कष्ट पहुँचाने की जरूरत
नहीं रहे। किन्तु वह पापकर्मा है, पाप भारवाही है, अज्ञान
के अन्धेरे में अन्धा होकर वह चारों ओर फिरता है परन्तु
उसको दया का मार्ग दिखाई नहीं देता। वह अज्ञानी है,
ज्ञान के बिना दयाभाव उत्पन्न होना कठिन है। धर्मशास्त्र
कार महर्षी कहते हैं कि—

पढम नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहि सेयपावग ॥

—मनुष्य मात्र को सर्व-प्रथम ज्ञान प्राप्त करना

श्रेयस्कर है। ज्ञान के बिना हित, अहित, सत्, असत् आदि का मार्ग नहीं सूझ पड़ता। इसी प्रकार जीव, अजीव का पता नहीं लगता। जीवाजीव को जाने बिना दया का पालन नहीं हो सकता। ज्ञानी पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष के रहस्य को भलीभाँति समझ कर दयाधर्म का वास्तविक परिपालन कर सकता है। अज्ञानी कल्याण और अकल्याण कर मार्ग को नहीं जान पाता।

संसार में ज्ञान सर्वोत्तम वस्तु है। इसीसे विनय, योग्यता, धन आदि गुणों की प्राप्ति होती है। ज्ञान ही धर्म, सुख, आदर, अधिकार और स्वर्ग अपवर्ग का प्रदाता है। इसको आग जला नहीं सकती, चोर चुरा सकता नहीं, राजा या डाकू लूट सकते नहीं और इसमें दीमक लग सकती नहीं। पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन, माता, पिता, दौलत आदि सभी साथ छोड़ देते हैं, पर ज्ञान कभी साथ नहीं छोड़ता। ज्ञान के बिना मनुष्य सींग पूछ रहित पशु से भी निकम्मा है। ज्ञान से ही मनुष्य मनुष्य कहाता है। इसलिये संसार में ज्ञान की तुलना में कोई वस्तु नहीं। शास्त्रकार कहते हैं कि—

नाण मोहमहघयारलहरी सहारसूरुग्गमो,
नाण दिट्ठअदिट्ठइट्ठघडणा सकप्पकप्पद्दुमो।
नाण दुज्जयकम्मकुजरघडा पचत्तपचाणणो,
नाण जीवअजीववत्थुविस्थरसालोयणे लोअण ॥१॥

—ज्ञान मोह रूप महा अन्धकार की श्रेणि का संहार करने में उदीयमान सूर्य के समान है। दृष्ट, एव अदृष्ट की इष्ट घटना को प्राप्त कराने में कल्पतरु के समान है। दुर्जय कर्म रूप हाथियों की घटा का विनाश करने को सिंह के समान है और जीव, अजीव आदि वस्तु-विस्तार का वास्तविक स्वरूप दिखाने के लिये दिव्य नेत्रों के समान है।

मानव शरीर निस्सार और नश्वर है-इसका सदुपयोग परोपकार, दया आदि सत्कर्मों से ही होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, लोभ आदि दुष्कर्मों द्वारा मानव-शरीर का दुरुपयोग होता है। जीते जी यदि किसी मनुष्यने दया, परोपकार आदि सत्कर्म कर लिया सो कर लिया, अन्यथा मरने के समय या उसके बाद कुछ नहीं हो सकेगा। फिर तो कृत दुष्कर्मों का फल ही भोगना पड़ेगा। अत सत्कर्म करने मे विलम्ब करना अच्छा नहीं। कहा है कि-

अजरामरवत् प्राज्ञो, विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ १ ॥

—बुद्धिमान् मनुष्य अपने को अजर और अमर समझ कर विद्या और धन का सचय करे। तथा मृत्यु मेरी चोटी पकड़े हुए है यह जान कर परोपकार, दया, दान आदि धर्मकृत्य करे। न मालूम किस समय मृत्यु आक्रमण कर ले। अतः जो कुछ पुण्यसचय करते बने, वह कर लेना चाहिये, मृत्यु के आ जाने पर कुछ नहीं होगा।

पुण्यसंचय करने का सुगम साधन जीवमात्र को आत्मवत् समझ कर, उन पर दया करना है। जीते जी यह जीवन का सदुपयोग हो जाय तो अच्छा है। अन्यथा यह शरीर पशु से भी गया बीता है। पशु तो जिवितावस्था में भी विश्व का उपकार करते हैं, और मरने बाद भी अपने चर्म और अस्थियों द्वारा विश्व का महान् उपकार करते हैं। किसीका मांस, किसीका मूत्र, किसीका गोबर, किसीके केश, किसीके दाँत, किसीके हाड़, किसीके लोचन और किसीके आसन। इस प्रकार, पशु के शरीर की सभी वस्तु संसार के काम में आती है। मरने के पश्चात् मानव शरीर तो जलाने, या दफनाने के अतिरिक्त दूसर किसी काम में नहीं आता। कहा है कि—

हाथीदाँत के खिलौने जगत के आवें काम,
बाघों का बाघम्बर महेश चित लायेगा।
मृगन की छाल को बिछावत हैं योगीराज,
वृषभ का चर्म कछु अन्न निपजायेगा॥
साभर के सटके तो बाधत सिपाही लोग,
गैंडे की ढाल राजा राना मन भायेगा।
नेकी और बदी दोही संग चले सियाराम,
मनुष्य का चर्म कछु काम नहीं आयेगा॥ १॥

ऐसी परिस्थिति में मानव यदि अपने हृदय में दया

धारण करके परोपकार न करे, तो वह फिर किस काम का ? । मनुष्य को चाहिये कि अलभ्य मानव-शरीर से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि सन्नियमों का परिपालन करते हुए प्राणीमात्र की रक्षा करे। सब से बड़ा उन्नत और मत्फल प्रदायक सर्वोत्कृष्ट धर्म दया है। सभी जीव सुखी रहना चाहते हैं, दुःखी होना कोई नहीं चाहता। विष्ठा मे उत्पन्न कीड़े को और स्वर्ग मे स्थित सुरेन्द्र को जीवन आशा बराबर है। मरना प्राणिमात्र को अप्रिय लगता है, दुःख सन्तप्त होकर कोई मरना नहीं चाहता। शास्त्रों में अनेक विषयों में मत भेद है, पर दयाधर्म के विषय में सब एक मत हैं। इसलिये जो मनुष्य प्राणीमात्र को आत्मवत् समझता है, हर तरह उनको शाता पहुँचाता है और दुखियों को यथाशक्ति सहायता प्रदान करता है वह स्वर्गगामी है। जो अपनी रसनेन्द्रिय की लोलुपता से मूक प्राणियों को मार कर उनका मांस भक्षण करता है, उसके लिये महर्षी लिखते हैं कि—

परदोहवहबंधण, बंदग्गहग्वत्तखणणपमुहाइ।
परघणलुद्धो जो कुणइ, लहइ सो तिक्खदुक्खाइ ॥१॥

—परधन का लोभी हो जो मनुष्य दूसरों का द्रोह करता है, किसीको दुःख या बन्धन में डालता है तथा चोरी प्रमुख दुष्कृत्य करता है, वह मर कर भवान्तर में

नरक आदि कुयोनियों के महा भयकर कष्ट भोगता है। किसी सायरने लिखा है कि—

काटा किसीको मत लगा, जो मिस्लेगुल फूला है तू।
हक में तेरे तीर हैं, किस बात पर भूला है तू ॥१॥

—बिना अपराध यदि किसीको कष्ट पहुँचा कर कांटा चुभोया जावे तो परभव म वह काटा ही तीर बन कर उसका बदला लेता है। कर्मों का फल चाहे अमीर हो, चाहे गरीब, सब को बराबर भुगतना पड़ता है। इन्सान को यह बात कभी भूल जाना नहीं चाहिये।

निर्बल और हीन दीन जनों को कष्ट पहुँचाना महान् अनर्थ दायक है। यदि किसीका भला, या उपकार न करते बने तो उनका बुरा करक अपनी शक्ति को दूषित कर डालना अच्छा नहीं। शक्ति और वैभवशाली हो करके गरीबों को सतान, या उनको किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने में अपनी शक्ति और वैभव का अपव्यय एव दुरुपयोग होता है-जिसका अनर्थकारी भयकर परिणाम हुए बिना नहीं रहता। पीड़ित एव अकारण व्यथित अन्त करण से गरीब लोग ऐसी आहें निकालते हैं-जिनसे व्यथित करने वालों को अहित अवश्य होता है। उनकी दु खमयी आहें उनको सतानेवालों से बदला लेती हैं-य आहें कभी निष्फल नहीं होतीं।

शक्ति और वैभवशालियों को चाहिये कि गरीबों को न सताते हुए उनकी आहों से अभिशापित न होवें। अन्यथा जब मरे हुए ढोर की खाल से कठिन लोहा भी भस्म हो जाता है, तो मनुष्य उसके सामने कौनसी वस्तु है ?। तुलसीदासजी कहते हैं कि—

तुलसी आह गरीब की, कबहुँ न निष्फल जाय ।
मुए ढोर की खाल से, लोह भस्म हुइ जाय ॥ १ ॥

आधुनिक विषम वातावरण के स्वार्थमय सुदृढ़ पाश में फँदे हुए आज के धनिक एवं वैभवशाली अहिंसावाद के अनुयायी हो कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के नाते गरीब दीन, हीन एवं पतित लोगों का रुधिर चूँस कर परमोत्कृष्ट अहिंसावाद को कलङ्कित करते हैं, यह अहिंसा वादियों के लिये कितनी लज्जा जनक बात है। एक ओर अहिंसा के संरक्षक एवं पालक होते हुए घातक के हाथों से कुछ पैसे के बदले बकरा छीन कर उसके कान में अमरकड़ी डलवाते हैं और दुनियाँ के सामने अपने को करुणार्द्र-हृदयी घोषित करते हैं। पश्चात् उसकी कुछ भी सार समाल नहीं करते और न उसका दूसरों से प्रबन्ध कराते हैं। वह बकरा भूख एवं प्यास की पीड़ा से पीड़ित हो बुरी दशा से यमराज का अतिथि बन जाता है। यह हिंसा और पाप की कितनी जघन्यतम पराकाष्ठा है। इसी कारण आज वास्तविक

दयाधर्म का ह्रास हो रहा है। जिस जाति का दया पालन करने का परम धर्म है वहीं जाति यदि हिंसा और पाप-पथ की ओर प्रवृत्त हो जाय तो धर्मरक्षा एवं उन्नति कैसे हो सकती है ? । जो व्यक्ति अहिंसावादी हो करके निर्बलों पर निर्दयता का प्रहार करता है, फिर भी वह दुनियाँ को कहता है कि मैं अहिंसावादी हू-दयालु हू यह पाखण्ड, या नग्नचित्र नहीं तो और क्या है ? । किसी कविने लिखा है कि—

हा ! निर्धनों की हो रही है दुर्दशा कैसी बुरी,
धनवान इनके कृश उदर में मारते तीखी छुरी ।
धन निर्दयी ये चूसते इन निर्बलों का रक्त हैं,
तो भी कहें हम तो अहिंसावाद के ही भक्त हैं ॥१॥

कुछ तो विचारो ओ अहिंसावादियो ! अब ध्यान से,
उन पूर्वजों के वचन को कुछ तो सुनो तुम कान से ।
होती अहिंसावाद की रक्षा दया के दान से,
फिर चूसते क्यों ? निर्धनों को द्रव्य के अभिमान से ॥२

भावुक कवि के आशय को समझ कर, मनन कर और उस पर पूरा ध्यान देकर न केवल अहिंसावादियों को, अपितु प्रत्येक मनुष्य को प्राणीमात्र पर दया करके अपना क्षणभङ्गुर मानव जीवन सफल एवं सार्थक बनाते हुए पर मपदगामी बनो के लिये नीचे के पद्य को प्रतिपल सहृदयता से मनन करते रहना चाहिये—

बन कर सहायक निर्धनों के दान इनको दीजिये।
आवें अगर गृह द्वार पर तो मान इनको दीजिये ॥
बन दीनबन्धु प्रेम से निःस्वार्थ सेवा कीजिये।
मन में दया को स्थान दे सत्कृत्य प्रतिपल कीजिये ॥१॥

दयाधर्म में इतना सामर्थ्य है कि यह जन्म जन्मान्तरों के समस्त पापकर्मों का नाश करके मनुष्य को अन्तिम ध्येय तक पहुँचा देता है और उसके जन्म मरण सम्बन्धी सब दुःख मिटा देता है। अतः संसार में इसकी तुलना में अन्य कोई धर्म नहीं आ सकता।

कल्लाणकोडी जणणी, दुरतदोगचदुक्खविद्दलणी।
सग्गापवग्गहेऊ, एगुचिय होइ जीवदया ॥ १ ॥

—करोड़ों सुख परम्पराओं को पैदा करनेवाला, दुर्गति का समूल नाश करनेवाला, स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्ति का प्रधान कारण संसार में एक दयाधर्म ही है। नीतिशतक में लिखा है कि—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा मूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्था।

—जीवहिंसा न करना, पराया धन हरण करने से मनको रोकना, सत्य बोलना, समय पर सामर्थ्यानुसार दान

देना, परस्त्रियों की चर्चा न करना और न सुनना, तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना, गुरुजनों के आगे नम्र रहना और सब प्राणियों पर दया करना, सामान्यतया सब शास्त्रों के मत से ये सब परमसुख प्राप्त करने के मार्ग हैं।

किसीकी स्वतन्त्रता या उसके अधिकारों पर जबरन अपनी सत्ता का बोझा न लादो और उसके धन, जायदाद, स्त्री, पुत्री आदि का अपहरण करने का जाल न बिछाओ। यथा भाग्य से जो कुछ मिला है उसी में सदा सन्तुष्ट रहो और सब के साथ मित्रता का आचरण करो। शान्ति लाभ प्राप्त करने का यही एक सुख कर सरल मार्ग है।

सबकी प्रियता मनुष्य को तभी मिलती है जब वह विश्व बन्धुत्व की भावना को अपने हृदय में रख कर सब के साथ भाई के समान व्यवहार रखता है और उसके लिये सर्वस्व अर्पण करता है। त्यागवृत्ति ही मनुष्य को सब का प्रिय बनाती है। स्वार्थवृत्ति से तो मानव सबका अपमान पात्र बनता है।

धृति, क्षमा, दया, दम, अस्तेय, निष्परिग्रह, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध, ये मानवधर्म के पवित्र अंग हैं। इनको यथावत् पालन किये बिना मनुष्य में मनुष्यता प्रगट नहीं होती और न वह आदर्श पुरुष बन सकता है। अतएव " सबै बुराई छांडिबो, करिवो पुण्य विशेष। निज

मानव को साधितो, यही बुद्ध उपदेश ॥ "-समस्त बुराईयों का त्याग कर और निज मानसिक मलिनताओं को मिटा कर पवित्र मार्ग का आचरण करते रहना चाहिये। मानसिक मलिनतामय असदाचरण की आदत को मिटाये बिना केवल बुद्धिबल से कोई भी आदर्श नहीं बन सकता। जब इन्द्रियों के अनुचित व्यवहारों में जाते हुए मन को रोक कर निस्वार्थ हो प्राणिमात्र के कल्याण करने की भावना जाग्रत होगी, तभी आदर्शता मिलेगी। अन्त म इतना फिर लिख कर यह निबन्ध पूर्ण किया जाता है कि—

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्, मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा, वाच वदत भद्रया ॥ १ ॥

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥ २ ॥

भाइ भाई परस्पर द्वेष न कर-हिलमिल के प्रेम से से रहें। भगिनी भगिनी क साथ अदखाई न करें। विश्व के सभी मानव एकमत और समान बन कर परस्पर मृदुवाणी बोलें ॥ १ ॥ ससार में सभी प्राणी सुखी रहें, सभी प्राणी आरोग्य लाभ प्राप्त करें, सभी प्राणी अच्छे कार्यों को करें और कोई भी दुःखी नहीं रह ॥ २ ॥ इत्यल विस्तरेण।

इसमें आये हुए सूक्तों की सूची।

प्रासंगिक संक्षिप्त कथाएँ ।